स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती



# गीता-दर्शन

[ १ ]

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
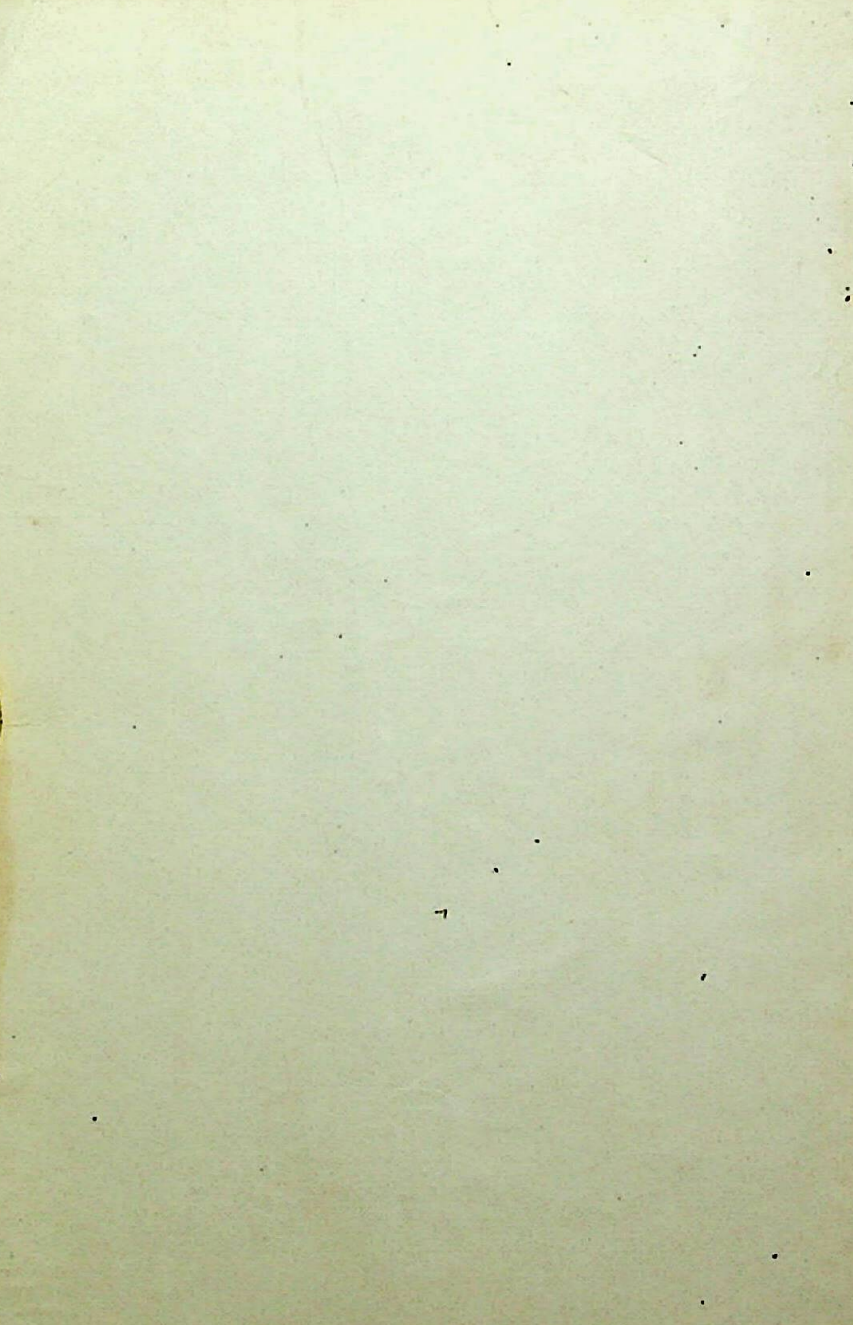
# गीता-दर्शन

[ १ ]

अनन्तश्री स्वामी

अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलन कर्त्री

श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

गीता-दर्शन

मई, १९८१

द्वितीय संस्करण : ५००० मूल्य : ६·००

प्रकाशक :

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल', २८/१६

बी० जी० खेर मार्ग

बम्बई–४००००६

फोन : ३६७९७६

मुद्रक :

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

आनन्दकानन प्रेस

सी-के० ३६/२० ढुण्ढिराज

वाराणसी–२२१००१

फोन : ६२६८३

२६–११–’७४

गीता-ज्ञान-यज्ञके समापन-समारोहके अवसरपर
पं० श्रीदेवधर शर्मा, पं० श्री विष्णुकान्त शास्त्री
और
श्रीमती सरला बिरला (श्री बसन्तकुमार बिरला)के
भाषणों का सारांश :—

भक्तिमती देवियो और सज्जनो,

आज इस गीता-ज्ञान-यज्ञका समापन होने जा रहा है। आप जानते हैं, पिछले दस दिन किस प्रकार दस क्षणोंकी भाँति व्यतीत हुए। इन दस दिनोंमें हमें ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द मिला, जिससे हमारे हृदय और प्राण प्रफुल्लित हैं और अभारी हैं

श्री बसन्त कुमार जी विरलाके और उनकी सहधर्मिणी सौजन्यमयी श्रीमती सरला विरलाके, जिन्होंने इतना दिव्य आयोजन किया, जिनके अनुराग-भरे आमन्त्रणपर स्वामीजी महाराज साक्षात् यज्ञपुरुषके रूपमें यहाँ पधारे। वास्तवमें जब स्वामीजी महाराज-जैसे सन्तपुरुष हमारे जीवनमें आते हैं, उनका साक्षात्कार होता है, उनका सत्सङ्ग प्राप्त होता है तभी हमें विदित होता है कि मरण-धर्मा कहा जानेवाला यह मानव शरीर कितना मूल्यवान् है। इसके भीतर जो नित्य और शाश्वत चैतन्य है, आत्मतत्त्व है उसका कितना विकास और प्रकाश हो सकता है। इसका पर-मात्मासे कितना तादात्म्य हो सकता है और उसके द्वारा इस जगत्को कितना ज्ञान-दान दिया जा सकता है। जब हम लोग—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

की व्याख्याके संदर्भमें स्वामोजी महाराजके दर्शन करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी महाराज उन्हीं दुर्लभ महात्मा-ओंमें-से हैं, जो न केवल दूसरोंको भगवत्स्वरूप समझते हैं बल्कि स्वयं भी भगवत्स्वरूप होते हैं और जिनके मन-वचन-कर्म सब कुछ विश्वात्मा भगवान्को समर्पित होते हैं। निस्सन्देह स्वामीजी–जैसे सन्तोंका इस संसारमें इसीलिए आना होता है कि मानव समाजके दुर्भावोंका, दुःखोंका अन्त हो। वे अपने सच्चे स्वरूपको पहचानें और कर्त्तव्य-कर्मका निर्वाह करते हुए शाश्वती शान्तिको प्राप्त हों। शाश्वती शान्ति कोई अलभ्य वस्तु नहीं, अनहोनी वस्तु नहीं बल्कि इससे हमारा नैसर्गिक नाता है और हम इसीके लिए बार-बार जन्म ग्रहण करते हैं।

स्वामीजीकी दृष्टिमें सभी प्राणी उनके आत्मस्वरूप हैं। कोई भी पराया नहीं। आप 'सर्वभूतहिते रताः' के अनुसार सबका भला

चाहते हैं। इसीलिए स्वामीजीके सम्पर्कमें जो आता है, उसे उनके प्रति आत्मीयताका अनुभव होता है और वह उनके आनन्दमय व्यक्तित्वसे प्रभावित हो जाता है। हमारा यह परम सौभाग्य है कि स्वामीजी–जैसे विद्वान् महात्मा हमारे मध्यमें हैं और हम उनकी अमृतमयी वाणीका रसास्वादन कर रहे हैं। प्रभुसे प्रार्थना है कि हमने जो कुछ सुना है, वह हमारे जीवनमें उतरे, हम अपने कर्तव्य और अकर्तव्यको पहचानें। इसी जन्ममें अपने जीवनके चरम फलको प्राप्त करनेमें समर्थ बन सकें। इन्हीं शब्दोंके साथ मैं प्रार्थना करूँगा पण्डित श्रीविष्णुकान्तजी शास्त्रीसे कि वे हम सबकी ओरसे स्वामीजीके चरणोंमें श्रद्धा निवेदित करें। स्वामीजीने हम सबकी जीवन-यात्राके लिए अपने प्रवचनोंके माध्यमसे जो पाथेय प्रदान किया है, उसके लिए हम केवल श्रद्धा ही निवेदित कर सकते हैं और अपनी आस्था ही व्यक्त कर सकते हैं। यह सब कुछ हमारी ओरसे पण्डित विष्णुकान्तजी शास्त्री ही करेंगे।

मैं समझता हूँ प० विष्णुकान्तजी शास्त्रीका परिचय आपको देनेकी आवश्यकता नहीं। वे कलकत्ता विश्वविद्यालयके हिन्दीके प्रोफेसर हैं और बहुत बड़े विद्वान् पिताके विद्वान् पुत्र हैं। इनके पिताका नाम पण्डित गांगेय नरोत्तम शास्त्री है जिनसे सारा विद्वान् समाज परिचित है। विष्णुकान्तजी भी आजकलके नये लेखकोंकी पीढ़ीमें हैं और उनके लेख 'धर्मयुग'में, साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान'में प्रकाशित होते रहते हैं। सारा हिन्दी-जगत् इन्हें जानता है। इन्होंने प्रारम्भसे ही महाराजश्रीका प्रवचन सुना है, गुना है, अनुभव किया है इसलिए ये जो कुछ भी कहेंगे अधिकारपूर्वक कहेंगे।

—देवधर शर्मा

मित्रो !

पूज्य स्वामीजीकी अमृतवाणी आपने-हमने सुनी। हम लोग कितना उसे गुन पाये इसे तो भीतरका परमात्मा ही जानता है। सुनते समय मुझे बराबर लगता रहा, एक प्रश्न उभरता रहा, यह मनुके मुखसे निकला था—

कौन हो तुम खींचते यूं मुझे अपनी ओर।
और ललचाके स्वयं हटते उधरकी ओर॥

आखिर यह कैसा आकर्षण, कैसी आत्मीयता है जो हम सबको अपने दैनन्दिन जीवनके कर्मसे खींच ले आती है, ले आती रही है और बराबर इस बातका आभास देती रहती है कि—

है अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया।

जो सुना वह बढ़े और बढ़े तथा वाणीके सहारे चला आये। स्वामीजी महाराज जो विवेचन कर रहे थे तो उन्होंने कहा कि इन्द्रियोंसे गहरे मन है, मनसे गहरे बुद्धि है, बुद्धिसे भी गहरे परमबोधस्वरूप आत्मा है। उसके निकट स्वामीजीकी वाणीका अवलम्बन लेकर हम आप जा सकते हैं। मुझे प्रतीत होता रहा कि यह बोध-स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, दीखता नहीं, अनुभूत नहीं होता। आखिर जब भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि 'मेरा दिव्यस्वरूप देखनेके लिए तुम्हें दिव्य चक्षुओंकी आवश्यकता होगी' तो भगवान्‌का दिव्यस्वरूप तो था ही वहाँ केवल अर्जुन देख नहीं सकता था—

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।

इसी तरह परमबोधस्वरूप तो विद्यमान ही है, हम आप समझ नहीं पाते, हम आप जिन चर्मचक्षुओंसे, जिस व्यवहारकी

वासनासे आवृत हैं, उसमें यह स्वरूप आता रहता है, हमारी दृष्टि वहाँतक नहीं जा सकती। दिव्यचक्षु परमात्मा ही देते हैं ऐसी बात नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है सद्गुरु दे सकते हैं—

उघरहिं विमल विमोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं रामचरित मनिमानिक।
गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥

हृदयके विमल विलोचन खुल सकते हैं। महाराजश्रीकी यह वाणी हमारे हृदयके विमल विलोचन खोल सकती है, अंशतः जितनी हमारी आपकी पात्रता थी। पात्रता ही नहीं है इसलिए ज्ञान नहीं। पात्र अगर एक सेरका है तो एक ही सेर हमें मिला, भले अमृतमय वर्षा होती रही। लेकिन यह है एक सेर जल किसी गन्दले नालेका तो नहीं है, यह गंगाका है, महाराजश्रीकी अमृतमयी वाणीका है, हमारी पात्रताको वही जल और आगे बढ़ा देगा ऐसा मेरा विश्वास है। बार-बार महाराजश्रीका प्रवचन सुननेका आग्रह आपके और हमारे मनमें बना रहे, हम और आप बार-बार यह प्रार्थना करते रहें कि महाराजश्री यहाँ पधारें! आयोजकोंका यह धर्म बना रहे जिसके कारण हमें, आपको यह अवसर मिला। हम प्रार्थना करते हैं कि भागवतका जो पाक्षिक प्रवचन महाराजश्री करते हैं उसके श्रवणका अवसर हमें मिले। अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा था, वह हम आपसे कह सकते हैं कि बार-बार आपकी वाणी सुनते हुए इस अमृत रससे हमें तृप्ति नहीं होती। आप पुनः पुनः इसे—

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।

—विष्णुकान्त शास्त्री

पूज्य स्वामीजी महाराजके पूज्य चरणोंमें प्रणाम !

भगवान् श्रीकृष्णकी असीम कृपासे यह एकादश दिवसीय अद्भुत अनुष्ठान सफल समङ्गल सम्पूर्ण हो रहा है। पूज्य स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजने अपनी दिव्यवाणी तथा अनुपम शैलीसे भगवद्गीताके इस अमृत-सन्देश तथा उपदेशका वितरणकर हम सबको कृतकृत्य किया है। मैं अपनी ओरसे तथा आप सबकी ओरसे पूज्य स्वामीजीको अनेक-अनेक धन्यवाद देती हूँ, आभार प्रदर्शित करती हूँ। जैसे अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।

वैसे ही हमने स्वामीजीसे प्रार्थना की कि हमें आपका प्रवचन सुनकर तृप्ति नहीं हुई है और मुझे यह सूचित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि नूतन वर्षमें इन्हीं दिनों इसी जगह वे हमें इस गीतामृतका पान करायेंगे। आप सब महानुभावोंने नियमित रूपसे यहाँ पधारकर अमृतवाणी शान्ति तथा भक्तिपूर्वक सुनी, इसलिए आप सबको हार्दिक धन्यवाद है और आशा है कि भविष्यमें भी आप सबका प्रेमपूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

पं० देवधरजी शर्मा हमारे अनुरोधपर इसी उद्देश्यसे यहाँ आये हैं, उन्हें अनेक धन्यवाद !

पूज्य महाराज श्रीका सहयोग हमेशा हमारे साथ तो रहता ही है और उनकी प्रेरणा इन सब कामोंके पीछे बराबर रहती है; उन्हें अनेक धन्यवाद ! स्वामी प्रबुद्धानन्दजी तथा श्री राधेश्यामजीको धन्यवाद देते हुए मैं आप सबको नमस्कार करती हूँ।

—सरला बिरला
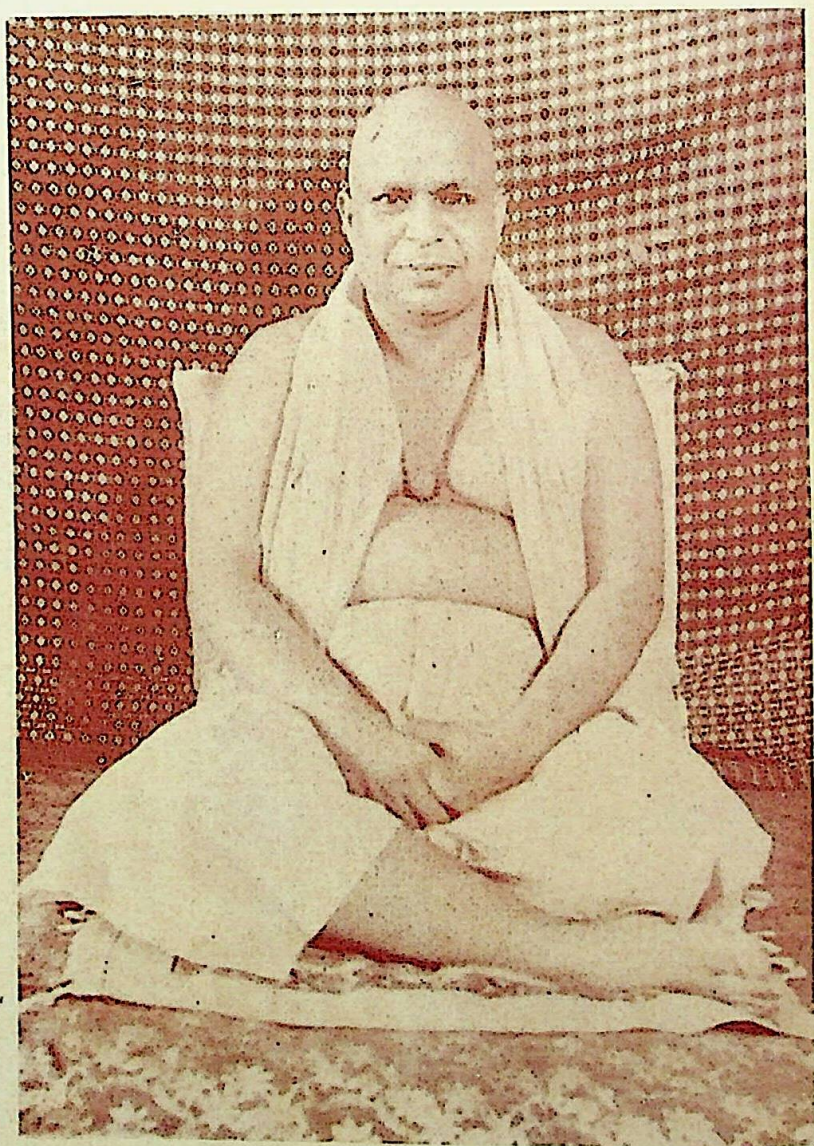
अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

ॐ

# गीता-दर्शन

## प्रवचन–१

( १६–११–१९७४ )

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥
गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

भगवान् श्रीकृष्ण करुणावरुणालय हैं। जब उनके हृदयसे करुणाकी धारा प्रवाहित हुई, जीवोंका कल्याण करनेके लिए, तब उसने सबसे पहला पात्र चुना धृतराष्ट्र नामक एक अन्धे व्यक्तिको, जिनके पास स्वयं देखनेका, युद्ध-भूमिमें जानेका, गीता सुननेका कोई साधन नहीं था और जो गीताके उपदेश-स्थलसे बहुत दूर बैठे हुए थे। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हींके हृदयमें प्रेरणा प्रदान की कि वे उनकी वाणीके सम्बन्धमें प्रश्न करें। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं तो अर्जुनको गीता सुनायी, परन्तु अर्जुनके अतिरिक्त यदि किसीको सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ तो संजय

और धृतराष्ट्रको ही। इसलिए गीताके तीन पात्र हैं—अर्जुन, संजय और धृतराष्ट्र।

अतः सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्णका ही स्मरण करना चाहिए, जिन्होंने जगन्मंगलके लिए धृतराष्ट्रके हृदयमें गीता-विषयक जिज्ञासा उत्पन्न की। धृतराष्ट्रको युद्धके समाचार पहले हीसे मालूम थे। दस दिन युद्ध हो चुका था। भीष्म-पितामह शरशय्यापर जा चुके थे, तब इस प्रश्नको कि—

**किमकुर्वत संजय :** कौरवों और पाण्डवोंने धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें इकट्ठे होकर क्या किया, केवल यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि उन्होंने युद्ध किया या नहीं किया? उस प्रश्नका तो तात्पर्य यह है कि वहाँ कौन-सी विशेष घटना घटित हुई थी?

गीता महाभारतके भीष्म पर्वमें आती है और वह उसका सारभूत ज्ञान है। यह बात बार-बार ध्यान देने योग्य है कि जिनके पास कोई सामर्थ्य नहीं, कोई साधन नहीं, कोई दृष्टि नहीं उनके हृदयमें भी गीता-विषयक प्रश्न उठाकर भगवान् अपना आदेश-सन्देश उनतक पहुँचाते हैं।

अब दूसरी बात संजयकी लेते हैं। संजयने समग्र गीता भगवान्के श्रीमुखसे ही श्रवण की, परन्तु वह व्यास-प्रसाद भी है। स्वयं संजयका कहना है कि मैंने गीताका गुह्य ज्ञान तो भगवान्के श्रीमुखसे ही प्राप्त किया; किन्तु उसमें केवल भगवान्का ही प्रसाद नहीं, व्यासका प्रसाद भी है—

**व्यासप्रसादात् श्रुतवान् एतद् गुह्यमहं परम्।**

(गीता १८.७५)

इससे निष्कर्ष यह निकला कि धृतराष्ट्रपर संजयकी, संजयपर महापुरुष व्यासकी और अर्जुनपर साक्षात् भगवान्की कृपा है।

संजयने समग्र गीताका श्रवण करके अपना एक निश्चय बताया और छह बातोंपर ध्यान आकृष्ट किया। संजयका कहना है कि हम लोग जो कुछ भी करते हैं, उसमें ईश्वरका हाथ सन्निविष्ट है और यह बात हम लोगोंको ज्ञात रहनी चाहिए। ईश्वरका हाथ होना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना महत्त्वपूर्ण उसका ज्ञात रहना है।

अविदितो देवो नैनं भुनक्ति।

पूर्वाचार्योंका कहना है कि ईश्वर तो सब जगह है, परन्तु वह रक्षा तब करता है जब मालूम पड़े कि ईश्वर रक्षा करता है—

हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।

भगवान्‌की स्मृतिसे कष्टका निवारण होता है। वस्तुतः भगवान् स्वयं विपत्तिसे नहीं छुड़ाते, भगवान्‌की स्मृति विपत्तिसे छुड़ाती है। भगवान् तो विपत्तिके आनेमें कर्मका फल देते हैं। परन्तु जो अपने हृदयमें भगवान्‌की स्मृति रखता है, उसको विपत्तिका अनुभव नहीं होता। अपने द्वारा किये हुए भगवत्स्मरणमें यह सामर्थ्य है कि वह विपत्तिको मिटा दे। हृदयमें भगवान्‌का विद्यमान होना एक बात है और भगवान्‌का स्मरण होना दूसरी बात है। भगवान्‌की स्मृति ही सब दुःखोंको दूर करती है। भगवत्स्मृति हमारे हाथमें है। अतः हमें चाहिए कि हम उसे निरन्तर बनाये रखें।

हम जो साधन कर रहे हैं, उसके पीछे भगवान्‌की प्रेरणा है। साधनका अभिप्राय केवल माला फेरनेसे नहीं होता—यह बात हम आपको स्पष्टम्-स्पष्टम् सुना देते हैं। भारतीय संस्कृतिमें जीवनके चार बिभाग माने गये हैं। महाकवि कालिदासने रघुवंश-की विशेषता बताते हुए भारतीय संस्कृतिका निचोड़ प्रस्तुत किया है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुं त्यजाम् ॥ (१.८)

शैशवमें—बाल्यावस्थामें विद्याका अभ्यास करना चाहिए, शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। यौवनमें धनका उपार्जन और विषय-भोग करना चाहिए। वृद्धावस्थामें महात्माकी तरह जीवन व्यतीत करना चाहिए और जब शरीर छोड़नेका समय आये तो अपने आपको भगवान्के साथ मिला देना चाहिए।

संजयने कहा—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

(गीता १८.७८)

यहाँ 'मतिर्मम' का अर्थ है—यह मेरा निश्चय है। और व्यक्तिगत निश्चय है। अर्थात् विद्वान् लोग तो गीताका न जाने क्या-क्या अभिप्राय बतायेंगे—द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, कर्म, भक्ति, योग आदि बहुत-से अभिप्राय बतायेंगे; परन्तु मैंने गीता-श्रवणसे जो निश्चय किया है, उसमें छः बातें हैं।

एक तो ईश्वर ही प्रेरणाका स्रोत है। वह योगेश्वर साधन बताता है; गुरुके रूपमें आता है; शिक्षकके रूपमें आता है; माता-पिताके रूपमें आता है; हृदयमें प्रेरणा देता है।

दूसरे हम जो कुछ कर रहे हैं, ईश्वर उसका निर्वाह कर रहा है। ईश्वरकी यही विशेषता है कि वह मार्ग भी बताता है, मार्गका निर्वाह भी करता है और उसका फल भी देता है। जब मार्ग बताता है तब ईश्वर होता है ज्ञानस्वरूप। जब निर्वाह करता है तब ईश्वर होता है सत्-स्वरूप और जब फल देता है तब ईश्वर होता है आनन्दस्वरूप। इस प्रकार ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है

और प्रेरक, फलदाता तथा निर्वाहके समय स्थिति-स्थापक आत्म-धारणानुकूल व्यापार उत्पन्न करनेवाला प्रभु है।

अच्छा देखो, साँस लेते हैं तो वायुके द्वारा क्या क्रिया होती है ? वही हृदयको स्पन्दन देता है, जिससे हम साँसको खींच सकें या ले सकें, और वही श्वासके रूपमें आता-जाता रहता है। वही हमें जीवन देता है। जिस प्रकार साँसके लिए—जो एक शरीरकी वस्तु है—पूर्ण वायुकी आवश्यकता हो रही है, उसी प्रकार हमारे शरीरमें जो चेतना है, वह व्यक्तिगत होते हुए भी उसे सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण चेतनासे भी सत्ता मिलती है, ज्ञान मिलता है और आनन्द मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे हम बाहरकी वायुके बिना, समष्टि वायुके बिना, जीवित नहीं रह सकते; साँस नहीं ले सकते वैसे ही हमारी अथवा किसी भी जीवकी चेतना पूर्ण परमेश्वरके साथ सम्बन्ध रखे बिना पूर्णताको प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए आप अपने जीवन-कर्मके प्रेरक-रूपमें, निर्वाहक-रूपमें और फलदाता-रूपमें परमेश्वरको पहचान लीजिये। स्वयं निकम्मे होकर मत बैठिये। आप धनुर्धारी अर्जुनकी तरह पौरुष पूरा कीजिये। अर्जुन पुरुष है, भगवान् पुरुषोत्तम हैं। पुरुषको अपना पौरुष करना चाहिए और पुरुषोत्तमको प्रेरणा, निर्वाह और फल देना चाहिए। फलके रूपमें चार बातोंका उल्लेख है :

**श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिः ( १८.७८ )**

ये चारों आपके जीवनमें आनी चाहिए। श्री है आनन्द। आनन्दकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए श्रीके रूपमें। श्री एक तो सौन्दर्य है और एक है लक्ष्मी। अपने जीवनमें अन्तः-सौन्दर्य, बहिः-सौन्दर्य दोनोंकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। विजय बाहरके शत्रुओंपर भी और भीतरके शत्रुओंपर भी। श्रीमें आनन्द है, विजयमें शौर्य है—वीर्य है। हमें वीर भी होना चाहिए और

सुन्दर एवं सम्पन्न भी होना चाहिए। श्रीका अर्थ है—हमारे कर्ममें सुन्दरता हो, शरीरमें सुन्दरता हो, मनमें सुन्दरता हो। विजयका अर्थ—भीतरकी जो वृत्तियाँ हैं, वे हमसे गलत काम न करायें, हमारे काबूमें हों, वशमें हों। काम-क्रोध आदि भी हमारे जीवनमें हों तो वे हमारे अधीन होकर रहें। हम उनके वशमें न रहें, वे हमारे वशमें रहें। जहाँ जरूरत हो वहाँ हम क्रोध करें। सबको 'बाबाजी' होनेकी आवश्यकता नहीं; राष्ट्रपर कोई आक्रमण करे तो वहाँ माला लेकर सामने नहीं जाना चाहिए, बन्दूक लेकर सामने जाना चाहिए। अपना जो शास्त्र है, वैदिक साहित्य है; वह केवल अहिंसाके लिए नहीं और केवल हिंसकोंके लिए भी नहीं। साधनाकी पराकाष्ठा है अहिंसा और क्रूरताकी पराकाष्ठा है हिंसा। विश्व-सृष्टिमें अहिंसा और हिंसाके जो प्रवाह होते हैं, उनमें समत्व रहे हमारी बुद्धि-वृत्तिपर। गीता इस साम्ययोगपर पहुँचाती है, नहीं तो उसमें—

हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते। (१८.१७)
सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ॥ (२.३८)

ऐसे प्रसङ्ग क्यों आते ?

भारतीय संस्कृति केवल निवृत्ति-प्रधान संस्कृति है और हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहना हिन्दू संस्कृति या वैदिक संस्कृति है—ऐसा सोचना बिलकुल गलत है। हमारे वेदशास्त्र केवल धर्मग्रन्थ ही नहीं; अर्थ-ग्रन्थ भी हैं, काम-ग्रन्थ भी हैं, मोक्ष-ग्रन्थ भी हैं। किसी मजहब या मजहबी मर्यादाओंको बतानेके लिए ही वेद-शास्त्र नहीं, बल्कि उनमें धन कैसे कमाना चाहिए और भोग कैसे करना चाहिए—इस विद्याका भी प्रचुरतासे निरूपण है। इसलिए चारों पुरुषार्थोंके ग्रन्थ हैं वेद, उपनिषद्, गीता आदि। इस बातको कभी भूलना नहीं चाहिए।

'श्रीविजयो भूतिः' में जो भूति है, उसका अर्थ है वैभव। आनन्दका विशेष उल्लास है श्री और सत्ताका विशेष उल्लास है विजय। क्रियात्मक है विजय और द्रव्यात्मक हैं भूति। वस्तु-रूपसे है विभूति और कर्ममें जो पौरुष है, उसके साथ है विजय। 'ध्रुवा नीति' सबके लिए चाहिए। नीति माने नेत्र-नयन-आँख। 'नी-प्रापणे' धातु है। नयन क्या करता है? पाँव रखनेको जगह बताता है। हमारे पाँवको जो लेकर चलता है, उसका नाम होता है नयन। नयनवालेको बोलने हैं नेता। उस नेतामें जो नीति है, धर्म है, उसको बोलते हैं नीति। नयन बाहर हैं, नीति भीतर है। गीतामें नेता धनुर्धारी अर्जुन हैं। निश्चय यह हुआ कि मनुष्यके जीवनमें एक स्थिर नीति होनी चाहिए। ध्रुवानीतिका अर्थ है डावाँडोल नीति नहीं चाहिए, योजनावद्ध स्थिर नीति होनी चाहिए। वैभव भी होना चाहिए और विजय भी होना चाहिए। अन्तःसौन्दर्य और बहिःसौन्दर्य भी ठीक हों और सोचनेमें भी ठीक हों। इस प्रकार संजयने जो छह बातें बतायीं, उनमें श्री, विजय, भूति और ध्रुवनीति ये चार तो फलात्मक हैं। पाँचवी 'धनुर्धरः' पौरुषात्मक है। धनुर्धर पौरुष है अर्जुनका और छठी 'योगेश्वरः' है सर्वात्मक अर्थात् समष्टिके साथ सम्बन्ध रखनेवाली। चूँकि ईश्वर सर्वात्मक है इसलिए आप सोच-विचार करते समय केवल व्यक्तिगत स्वार्थ न सोचें, परिवारपर भी दृष्टि रखें, गाँवपर भी दृष्टि रखें, राष्ट्रपर भी दृष्टि रखें। समग्र विश्वपर, समग्र मानवतापर भी दृष्टि रखें। ईश्वर यदि केवल कल्पनाकी वस्तु होगा, आप आँख बन्द करके ही उनके बारेमें सोच सकेंगे और बाहरी दुनियामें उसको नहीं देख सकेंगे तो उसका अनुभव कभी नहीं होगा। ठोस दुनियाके साथ मिले बिना, ईश्वर कभी अनुभवका विषय नहीं हो सकता। वह जब ठोस दुनियामें मिलेगा, परिवारमें मिलेगा, गाँवमें मिलेगा, जातिमें मिलेगा, मानवताके

साथ मिलेगा तब अनुभवका विषय होगा। इसलिए ईश्वरके साथ सम्बन्ध, जीवका पौरुष, अन्तः-बहिः सौन्दर्य, भीतरी-बाहरी शत्रुओंपर विजय, वैभव और एक ध्रुवानीति—ये छहों जीवनमें सफलता लानेवाली वस्तुएँ हैं। संजयने अपना यही निश्चय धृतराष्ट्रपर प्रकट किया।

अब जब हम गीताके प्रारम्भमें दूसरी बातपर ध्यान देते हैं तो दुर्योधन और अर्जुन दोनोंके विवेक उपस्थित होते हैं। दुर्योधनके सामने भी सेना है और अर्जुनके सामने भी सेना है। दुर्योधन द्रोणाचार्यको सेना दिखाते हुए कहते हैं—

**पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।**
**व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥**

(गीता १.३)

परन्तु विवेककी जो गम्भीरता चाहिए, वह दुर्योधनमें नहीं। वैसे कुछ विद्वान् दुर्योधनको आसुरी सम्पदाका और अर्जुनको दैवी सम्पदाका प्रतीक मानते हैं। दोनोंमें जो अन्तर है वह स्पष्ट है। अर्जुन जब सेना देखते हैं तो पहले भगवान्से बातचीत करते हैं और भगवान् भी अर्जुनके सामने केवल चुपचाप बैठे हुए नहीं। न निर्गुण हैं, न निराकार हैं, न वैकुण्ठनाथ हैं, न गोलोकाधिपति हैं। आप देखें हमारे भगवान्का यह रूप। हमारे भगवान्की जो विविक्त विशेषता है, उसकी ओर देखिये। कहाँ है ऐसी मान्यता कि वह हमारे रथपर सारथि होकर बैठता है। सब जगह ईश्वर हैं पर वे बहुत बड़े हैं और इतने बड़े हैं कि हम केवल उनको हाथ जोड़ सकते हैं, प्रार्थना कर सकते हैं, नमस्कार कर सकते हैं। हफ्तेमें एक बार प्रार्थना कर लें तो भी चले और दिन भरमें पाँच बार नमस्कार करें तो भी चले। नमस्कार अथवा प्रार्थनाके विषय जो परमेश्वर हैं, वे भिन्न-भिन्न

धर्मोंमें हैं। हमारा परमेश्वर अपने भक्तके रथपर बैठकर एक वेतनभोगी सारथिके समान काम करता है। यह क्या करुणाका कोई छोटा-मोटा उदाहरण है कि हाथमें घोड़ोंकी बागडोर पकड़े, चाबुक ले, मालिककी जगहपर नहीं, नौकरकी जगहपर बैठे और केवल नौकरकी जगहपर बैठे ही नहीं, आज्ञाका भी पालन करे।

**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत। ( १.२१ )**

मानो अर्जुनने पूछा—'सारथि बने हो ?'

'हाँ इसमें कोई शङ्का है।' भगवान्‌ने उत्तर दिया। 'तब पहली परीक्षा तुम्हारी यह होगी कि तुम रथीकी आज्ञाके अनुसार रथ चलाते हो कि नहीं ? कहीं ईश्वरताके आवेशमें तुमने अपने मनसे रथ चलाना शुरू किया तो तुम्हारा सारथि बनना सच्चा नहीं होगा। सारथि बनना तो तब सार्थक होगा जब रथीकी आज्ञाके अनुसार रथ चलाओगे।' भगवान्‌ने स्वीकार किया।

यह आज्ञा माननेवाले भगवान् हैं। यहाँ आज्ञा देनेवालेका नाम भगवान् नहीं, आज्ञा पालन करनेवालेका नाम भगवान् है। यह भगवान्‌के स्वरूपकी एक ऐसी झाँकी है, जो आपको संसारमें अन्यत्र मिलनी मुश्किल है। बहुत कठिन है कि ईश्वर आज्ञापालन-कारीके रूपमें उपस्थित हो। इसलिए संजयने कहा—

**सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्। ( १.२४ )**

भगवान्‌ने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा किया। जब कोई बीचमें नहीं होगा, मध्यस्थ नहीं होगा, तटस्थकी तरह दोनों पक्षोंका विचारक नहीं होगा, तब वह एक पक्षका पक्षी हो जायेगा, पक्षपात आजायेगा उसमें।

सत्यके ज्ञानके लिए तटस्थ-दृष्टि होना बहुत ही आवश्यक है। जब हम एक पक्षमें आरूढ़ होकर किसी वस्तुको देखते हैं तब

उसके स्वरूपको ठीक नहीं देख पाते। जिस वस्तुके साथ 'मैं' और 'मेरा' जुड़ता है, उधर पलड़ा भारी हो जाता है और हम उसीकी ओर झुक जाते हैं, नीचे चले जाते हैं। जब हम 'मैं-मेरा' जोड़े बिना किसी वस्तुको ठीक-ठीक देखते हैं तभी उसका सच्चा स्वरूप प्रकट होता है। दो वस्तुएँ हमारे सामने अपना स्वरूप तभी प्रकट करती हैं, जब हम दोनोंके प्रति तटस्थ हों। नहीं तो एक वस्तु हमें अपने पक्षका न मानकर अपना हृदय नहीं दिखायेगी और दूसरी वस्तु कहेगी कि यह हमारे पक्षका है इसलिए आओ इसको अपनी लपेटमें ले लें। अतः भगवान् अर्जुनका रथ वहाँ खड़ा करते हैं, जहाँ दोनों पक्षोंको बराबर देख सके, उसके भीतर ठीक-ठीक दृष्टि आ जाये।

अब आप अपनी दृष्टि दुर्योधन और अर्जुन दोनोंकी विचार-पद्धति, विचार-सरणिपर डालिये। दुर्योधनका कहना है कि यहाँ जो सेना इकट्ठी हुई है, वह सब मेरे लिए मरनेको इकट्ठी हुई है— **मदर्थे त्यक्तजीविताः**। ये सब मर जायें, हमारी जीत हो जाये, हम महाराजा बन जायें; इसके लिए सब इकट्ठे हुए हैं। किन्तु अर्जुनका दृष्टिकोण है—

**येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।**
**त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥**

(गीता १.३३)

जिनके लिए मैं राज्य और भोग-सुख चाहता हूँ, वे ही युद्ध-भूमिमें मरनेके लिए तैयार होकर आये हैं। जब ये ही मर जायेंगे तो मैं राजा होकर क्या करूँगा ? जब जनता ही नहीं रहेगी तो मैं जनेश्वर किस कामका ?

अर्जुनका दृष्टिकोण यह है कि मैं भले राजा न होऊँ, मुझे भिक्षा माँगकर भी जीवन व्यतीत करना पड़े; परन्तु प्रजाका

कल्याण हो, जनताको राज्य मिले, भोग मिले, सुख मिले। मैं सबका त्याग करनेके लिए उद्यत हूँ। सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदाका जो वर्णन है, उसका सारा ही अर्थ गीताके पहले अध्यायमें आगया है। जो दैवी सम्पदाके गुण हैं, वे अर्जुनमें मिलेंगे और जो आसुरी सम्पदाके दोष हैं, वे दुर्योधनमें मिलेंगे। सोलहवें अध्यायमें तो केवल गुण-दोषोंका उल्लेख है, उनकी गिनती करायी गयी है, परन्तु उनका उदाहरण गीताके पहले अध्यायमें ही प्राप्त होता है।

अब विषादकी बात लीजिये। दुर्योधनको तो विषाद नहीं, वह तो बहुत हर्षमें है कि हमारे पास बड़ी सेना है, श्रीकृष्णकी भी सारी सेना हमारे पक्षमें आगयी है, हम पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करेंगे और राजा बनेंगे। परन्तु अर्जुनके हृदयमें प्रसाद नहीं, विषाद है।

एक बात ध्यान देने योग्य है। विषादको योग माना गया— 'विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः'। गांधीजीने अनासक्ति योगकी चर्चा की, तिलकने कर्मयोगकी चर्चा की, रामानुज, मध्वने भक्ति-योगकी चर्चा, शङ्कराचार्यने ज्ञानयोगकी चर्चा की, पर यह गीताका पहला अध्याय जिस विषाद-योगको लेकर आया है उसकी तो किसीने व्याख्या हो नहीं की। विषाद भी योग है। जिसको अपनी स्थितिसे, गतिसे, मतिसे, असन्तोष नहीं होगा, वह उससे निकलनेका प्रयास ही नहीं करेगा। इसीसे पहले वैराग्य होता है, फिर जिज्ञासा होती है। ज्ञान होता है—वैराग्यके लिए भी, राग द्वेषसे मुक्त होनेके लिए भी। जिस स्थितिमें हम पड़े हैं यह सम्पूर्ण नहीं यह ज्ञात होना आवश्यक है। अर्जुनको अपनी स्थितिका बोध है और इतना प्रबल वेग है बोधका, इतना प्रबल संवेदन है कि वह विचलित हो उठा है।

मनुष्यके मनमें जब उद्वेग होता है तब वह शरीरमें भी प्रकट होता है। क्रोध आनेपर आँखे लाल होती हैं। काम आनेपर शरीरमें उत्तेजना होती है। भोजनकी लिप्सा होनेपर जीभमें पानी आता है। प्रत्येक भाव जो पहले मनमें आता है, वह स्थूल होकर शरीरमें प्रकट होता है। इसलिए हमारे महात्माओंका कहना है कि कोई भी अपनेको छिपाकर, गुप्त नहीं रख सकता। उसके मनोभावमें जव तीव्र संवेदनकी उत्पत्ति होगी तब वह किसी-न-किसी रूपमें प्रकट हो जायगी। जोरसे हँसना, आँखमें आँसू आना, हाथ-पाँवका काँपना, आँखका लाल होना, ये सब मनोभावोंकी ही तो अभिव्यक्ति हैं।

तो अर्जुनको जो विवेक-शक्ति थी, उसने इतने तीव्र सम्वेगका रूप ग्रहण किया कि उसका शरीर फटने लगा और वह कह उठा :

> **सीदन्ति मम गात्राणि :** मेरा शरीर ( फट ) रहा है।
> **मुखं च परिशुष्यति :** ( १.१८ ) मेरा मुँह सूख रहा है।
> **वेपथुश्च शरीरे मे :** मेरे शरीरमें कम्पन हो रहा है।
> **रोमहर्षश्च जायते ( १.२९ ) :** मेरे रोयें खड़े हो गये हैं।

ये सब ज्वरके लक्षण हैं। अर्जुनका जो विषाद है, वह तीव्र विषाद है, मृदु विषाद नहीं। उसको विवेक-शक्ति जाग्रत् हो गयी है कि जो काम वह करने जा रहा है उसका परिणाम क्या होगा ? जो लोग परिणामको समझे बिना ही कोई काम करनेके लिए उद्यत हो जाते हैं, उन्हें अर्जुनकी स्थितिपर ध्यान देना चाहिए। परिणामका ज्ञान मनुष्यको धैर्य भी देता है, विवेक भी देता है।

परिणामजन्य स्थिति क्या होगी, यह देखनेकी बात है। अर्जुनकी दृष्टि जो परिणामपर गयी, वह यह सूचित करती है कि कोई भी काम केवल प्राप्त होनेसे ही नहीं कर लेना चाहिए उसके

परिणामपर भी दृष्टि रखनी चाहिए। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब अर्जुनका विवेक जाग्रत् हो गया तब विषाद-योग क्यों ? यदि हम संसारमें रो-धोकर किसीके पास जाते हैं तो हमारे जैसे ही हाथ-पाँव, हमारे जैसे ही दिल-दिमाग, हमारे जैसी ही अक्ल-शक्लवाले ऐसे मनुष्यके पास जानेसे विषाद-योग नहीं होता। विषाद-योग तब होता है—जब हम सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके अन्तर्यामीके सामने उपस्थित होते हैं—अपने मनको उनकी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

वास्तवमें ईश्वर कहीं दूर नहीं। आप बैठे हैं और आपकी बुद्धि विवेक कर रही है। बुद्धिके पीछे बैठकर उसका संचालन कर रहा है परमेश्वर।

**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्।**

आप ईश्वरको देखिये, ईश्वरको पहचानिये। आप साँस ले रहे हैं पर साँसको शक्ति देनेवाला जो वायु-तत्त्व है, वह बाहर और भीतर परिपूर्ण है। समष्टिके साथ सम्बन्ध रखे बिना व्यक्तिका जीवन ही नहीं रहता। हम, जो बुद्धिके सामने हैं, उसको तो देखते हैं परन्तु जो बुद्धिके पीछे हैं उसको नहीं देख पाते :

**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**

जिससे स्मृति होती है, जिससे ज्ञान होता है, जिससे अपोहन होता है; उसे हम नहीं देख पाते—यद्यपि वह है हमारे और हमारी बुद्धिके बीचमें ही, वह अन्तर्यामी बनकर बैठा है :

**धियो यो नः प्रचोदयात्।** ( ऋग्वेद० ३.६२.१० )

यह गायत्रीका मन्त्र रोज जप करनेवाले भी इस बातपर ध्यान नहीं देते कि हमारी बुद्धि-वृत्तिको प्रेरणा वही दे रहा है। अतः अपनी बुद्धिको जरा उसके प्रेरककी ओर उन्मुख कर दीजिये। तब आप और प्रेरक दोनों एक हो जायेंगे। जबतक

बुद्धि विषयोंको देखती है तबतक वह विषयाकार होती रहती है और जहाँ बुद्धिका मुँह ईश्वरकी ओर हुआ, वहाँ ईश्वरकी गोदमें बुद्धि हो गयी और हमारी गोदमें ईश्वर और बुद्धि दोनों हो गये। ईश्वरको आप नहीं भी मान सकते, और मान भी सकते हैं। परन्तु अपने आपको न माननेका कोई कारण आपके पास नहीं, किसी भी अवस्थामें आप आत्म-सत्ताको अस्वीकार नहीं कर सकते।

ईश्वरने कहा : भाई मुझे मानो चाहे न मानो। कोई भी ऐसा दबाव भला क्यों डालेगा, कि हमको तो मानना ही पड़ेगा। ईश्वरने भी अपनी तरफसे कोई दबाव नहीं डाला कि हमको मानो। परन्तु जब आप एकबार अपनी बुद्धिका मुँह अपनी ओर मोड़ लेंगे तब वह आपकी ओर देखने लगेगी और आपको यह बोध प्रदान करेगी कि ईश्वर ही बुद्धि-योग देता है : ददामि बुद्धियोगम्।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गीता० १०.११)

जब बुद्धिका मुँह ईश्वरकी ओर होता है तब ईश्वर अज्ञानको मिटा देता है और जब अज्ञान मिट जाता है तब ज्ञानस्वरूप आत्मा और ज्ञानस्वरूप ईश्वरमें किसी प्रकारके भेदकी उपलब्धि नहीं होती। वह विषाद भी योग है जो संसारमें बिखरनेवाले और जन-जनकी शरणमें जानेवाले हमारे मनको भगवान्‌में संलग्न करता है। कितना पराधीन है वह जीवन जो सोचता है कि अमुक वस्तुके बिना मैं नहीं रह सकता। एक जड़ वस्तु—उसका नाम कुछ भी रख लो। आपलोग मुझसे बहुत ज्यादा जानते हैं कि वे कौन-सी वस्तुएँ हैं, जिनके बारेमें आप सोचते हैं कि हम उनके

बिना नहीं रह सकते। हम एक-एक वस्तु, एक-एक कणके पास तो जायें कि हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकते।

कालके टुकड़े, क्षण-क्षणके पास जायें कि तुम्हारे बिना हम नहीं रह सकते। धरतीके चप्पे-चप्पेके पास जायें कि हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकते। एक-एक व्यक्तिके पास जायें, हाथ जोड़ें शरण-ग्रहण करें, किन्तु सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका जो संचालक है, उसपर हमारा ध्यान न जाये, हम उसकी शरण न लें—यह तो हमारे अभिमानकी पराकाष्ठा है। इस दुनियामें जितनी चोटें लगती हैं, जितने भी चपत लगते हैं, वे आत्माको नहीं लगते, ईश्वरको भी नहीं लगते, बल्कि वह सब हमारे अभिमानको ही लगते हैं। भगवान्‌ने चोट और चपत खानेके लिए अभिमानको ही बनाया है।

वह विषाद भी योग है, जिसके द्वारा हम कण-कणकी, क्षण-क्षणकी, जन-जनकी और मन-मनकी शरण लेना छोड़कर एक सर्वशक्ति-सम्पन्न सर्वज्ञ परमेश्वरकी ओर देखने लगते हैं और अन्तमें कह देते हैं :

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्

शिष्यका अर्थ शिक्षा देने योग्य नहीं होता, संस्कृत भाषामें शिष्यका अर्थ होता है शासन करने योग्य। जिस धातुसे शिष्य शब्द बनता है उसके अनुसार जो शिष्य है वह ईश्वरसे कहता है कि 'आप हमको शिक्षा मत दीजिये, आज्ञा दीजिये, हमारे ऊपर शासन कीजिये। क्योंकि मैं अहंभाव छोड़कर आपकी शरणमें आया हूँ।'

प्रसन्न और शरणागतमें थोड़ा अन्तर होता है। श्रीवैष्णव धर्ममें प्रपत्ति और शरणागति दो वस्तु मानी जाती हैं। गीताके आरम्भमें प्रपत्ति है और अन्तमें शरणागति। प्रपन्नका अर्थ इस

प्रकार होता है कि जैसे हमारे पाँवके दो हिस्से होते हैं। ऊपरके हिस्सेको बोलते हैं प्रपद—पंजा और जो निचला हिस्सा है, उसको तलवा बोलते हैं। प्रपत्तिका अर्थ होता है कि मैंने आपके पाँवका पंजा—प्रपद पकड़ लिया। प्रपत्तिमें अपनी पकड़ है, वैसे ही जैसे वानरका बच्चा अपनी माँकी छाती पकड़ लेता है। पकड़ उसकी अपनी होती है, नहीं पकड़ेगा तो गिर जायेगा। शरणागति होती है बिल्लीके उस बच्चेकी तरह जिसको वह अपने मुँहमें ले लेती है। श्रीवैष्णव लोगोंने प्रपत्ति और शरणागतिके ये दो दृष्टान्त दिये हैं। शरणागतिमें सम्पूर्ण निर्भरता होती है और प्रपत्तिमें अपनी ओरसे भगवान्‌की पकड़ होती है।

**'शिष्यस्तेऽहं'**—यह विषाद अर्जुनके जीवनमें कितनी उच्च-कोटिकी वस्तु है, जिसने उसको भीष्म अथवा द्रोण जैसे गुरुजनोंकी शरणमें नहीं जाने दिया। उन्होंने अपने महाराजा और बड़े भाई युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मासे भी सलाह नहीं ली। वे गये अपने जीवन रथपर, शरीर-रथपर आरूढ़ अपनी बुद्धिकी बागडोर पकड़े हुए और हाथमें चाबुक लिये हुए सारथि स्वरूप भगवान्‌की शरणमें। सारथिका अर्थ चलानेवाला होता है—'सारयति अश्वान् इति सारथिः'। जो संचालन करे, उसका नाम सारथि। वास्तवमें भगवान् ही हमारी बुद्धिमें बैठकर अन्तर्यामी रूपसे हमारा संचा-लन करनेके कारण हमारे सच्चे सारथि हैं। यह आता है—**'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'** ( क० १.३.३ ) बुद्धिमें बैठे हुए अन्तर्यामी जो ब्रह्म हैं वे ही सारथि हैं। **'इन्द्रियाणि हयान्याहुः'** ( १.२.४ ) इन्द्रियाँ हय हैं। **शरीरꣳरथमेव तु** शरीर रथ है और **धनुर्गृहीत्वा** ( मुण्डक २.२.३ ) इस धनुषपर अपने आपको ही बाणके रूपमें चढ़ाना पड़ता है, आत्मबलि करनी पड़ती है। यह आत्मबलि ही शरणागति है। तब मनुष्य स्वयं लक्ष्यका वेध नहीं करता, उसके द्वारा स्वयं भगवान् ही लक्ष्यभेद करते हैं। अतः जो प्रभु सम्पूर्ण

विश्वकी बुद्धिके सञ्चालक हैं उनको अपना सच्चा हितैषी मानकर अभिमान छोड़कर उनकी सहायता प्राप्त करनेके लिए अपने जीवन-रथका सारथि स्वीकार कर लिया जाये और अपने जीवनकी बागडोर उनके हाथोंमें दे दी जाये तो हमारे लिए भी—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् । ( २.७ )

की सार्थकता सिद्ध हो जायेगी ।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
( मुण्डक २.२४ )

•

## प्रवचन—२

( १०-११-१९७४ )

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके रथपर सारथि-रूपसे एक हाथमें घोड़ोंकी बागडोर और चाबुक पकड़ ली। इसका अर्थ है कि उनके एक हाथमें पूरा शासन है और उनका दूसरा हाथ ज्ञान-मुद्रामें है। तात्पर्य यह कि ज्ञान और शासन ये दोनों तो हैं भगवान्के हाथोंमें और स्वयं भगवान् हैं प्रपन्न-पारिजात, उदारशिरोमणि। किसी प्रकारका कार्पण्य उनमें नहीं। यह ईश्वरका लक्षण है कि वह परम उदार है, ज्ञान दे रहा है और शासनकी बागडोर उसके हाथमें है। उसने इस गीता-रूपी अमृतका दोहन किया है। जरा ध्यान कीजिये पार्थसारथि, प्रपन्न-पारिजात, तोत्रवेत्रैकपाणि भगवान्का, जिनके एक हाथमें तोत्र—घोड़ोंकी बागडोर और वेत्र—चाबुक है तथा दूसरे हाथमें ज्ञानकी मुद्रा है।

अब तीन बात गीतामें आनी चाहिए। शरणागतवत्सल भगवान् हैं प्रपन्न-पारिजात। अर्जुन प्रपन्न हैं और भगवान् पारिजात अर्थात् कल्पवृक्ष हैं—अर्जुनरूप प्रपन्नके लिए। उनसे जो चाहो सो मिलेगा। मनका नियन्त्रण—इन्द्रियोंका शासन उनके हाथमें है और वे ज्ञान-दाता हैं। इस प्रकार गीता-अमृतमें ये तीनों बातें आयीं।

भारतीय संस्कृति या वैदिक संस्कृतिमें ज्ञान दो तरहका माना गया है—एक अनुभव-स्वरूप ज्ञान और दूसरा अनुभव-

जन्य ज्ञान। ये वेद, उपनिषद् आदि जो ग्रन्थ हैं—इनमें मन्त्र हैं, श्लोक हैं, परन्तु ज्ञानका जो स्वरूप ये मानते हैं वह स्वयं अनुभव है, ब्रह्म है, आत्मा है, परमात्मा है। इस संसारमें इस ज्ञान-स्वरूपको ध्यानमें रखकर कोई धर्म-ग्रन्थ नहीं बना। इसका अर्थ यह है कि पुरुषने अपने अनुभवसे ज्ञानको इकट्ठा करके फिर उसका वर्णन नहीं किया। संसारका अनुभव होनेसे पहले जो ज्ञान-स्वरूप आत्मा था वह ज्यों-का-त्यों ज्ञान ही था। अनुभव—अखण्ड ज्ञान ही था जगत्के मूलमें। ज्ञान सब-का-सब दिया हुआ है कि देनेके पहले भी कुछ था? बड़ी अद्भुत बात है कि ज्ञानका स्रष्टा ईश्वर भी नहीं होता। यदि यह मानें कि ईश्वरने ज्ञान बनाया है, तो प्रश्न उठता है कि ईश्वरने ज्ञान कैसे बनाया? ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वर ज्ञानी था कि अज्ञानी? यदि ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वर ज्ञानी था तो ज्ञान था ही। यदि ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वर अज्ञानी था तो वह ज्ञान कैसे बनायेगा? इसलिए एक ज्ञान ऐसा है, जो ईश्वरका बनाया हुआ नहीं। उसी ज्ञानसे ईश्वरका पता चलता है। इसको हम लोग अपनी भाषामें अपौरुषेय ज्ञान बोलते हैं। वेद क्या है? यह पुरुष द्वारा बनाया हुआ ज्ञान नहीं। जिस ज्ञानसे पुरुष बना है—वह ज्ञान है। इस ज्ञानमें जीव और ईश्वर दोनों प्रकट होते हैं।

एक उपनिषद्-ज्ञान है और एक गीता-ज्ञान है। गीता-ज्ञान श्रुति नहीं, स्मृति है। यह बात सब आचार्योंको मान्य है। शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, शैव, शक्ति सब मानते हैं कि गीता स्मृति-ज्ञान है, श्रुति-ज्ञान नहीं। श्रुति-ज्ञानके अनुसार होनेपर भी यह है स्मृति। 'ब्रह्मसूत्र'में कोई छह-आठ बार स्मृतिके नामसे गीताका उल्लेख है। स्मृति कहनेका अभिप्राय क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण बड़े अनुभवी पुरुष हैं। मनुष्यको सुख-दुःखमें जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए, यह उन्होंने अपने अनुभवसे हमें समझाया।

आप लोग व्रजके रसिया गीतोंको सुनकर यह न समझें कि गाने-नाचनेमें ही उनका जीवन व्यतीत हुआ। संघर्षोंका बड़ा तगड़ा अनुभव है श्रीकृष्णको। पैदा होनेके पहले उनके माँ-बाप जेलखानेमें थे। छह भाई मर चुके थे। पैदा होते ही उन्हें पराये घरमें जाना पड़ा। सम्पन्न घरानेका बालक होनेपर भी उन्होंने गाय चरा-चराकर अपना जीवन व्यतीत किया। उन्हें जहर खाना पड़ा—पीना पड़ा। छकड़ेके नीचे दबना पड़ा। तूफानका सामना करना पड़ा। पानीमें डूबना पड़ा। अजगरके मुँहमें जाना पड़ा। बड़ी भारी बाढ़का, बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका, विपत्तियोंका सामना किया श्रीकृष्णने। मथुरा लौटे तो पहले मामाको ही मारना पड़ा। मामाको मारनेके बाद सत्रह बार दुर्गका युद्ध करना पड़ा। उनके गाँवपर, नगरपर दुश्मनने चढ़ाई की और किलेमें रहकर उन्होंने सामना किया। यह नहीं कि हमेशा जीतते ही रहे हों, शत्रुके सामने उनको भागना भी पड़ा, गुफामें जाकर छिपना भी पड़ा। आप लोगोंने तो श्रीकृष्णका चरित्र पढ़ा ही है। वे भगवान् हैं यह दूसरी बात है। जरा दूसरी दिशासे भी देखिये—जिसको हम भगवान् कहते हैं वह कितनी मुश्किलोंमें-से गुजरता है।

महाभारतमें वर्णन आता है कि जब जरासन्धने मथुरापर अट्ठारहवीं बार चढ़ाई की तब श्रीकृष्ण मथुरा छोड़कर भागे। जीवनमें कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है कि आदमीको अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ती है; गाँव छोड़ना पड़ता है। वर्णन है कि भागते समय श्रीकृष्ण और बलरामके पैरोंमें जूते नहीं थे, खड़ाऊँ नहीं थी। दोनों एक-एक धोती पहने हुए भागे थे। वे भागते हुए ऋषियोंके आश्रममें जा-जाकर सत्सङ्ग करते और प्रसाद पाते। एक पहाड़पर चढ़े तो वहाँ भी उन्हें घेरकर आग लगा दी गयी। किसी तरह आगकी लपटोंसे बचकर निकले तो समुद्रमें जाकर अपना नगर बसाया। बुआके पाँच बच्चे घरसे

निकाल दिये गये। राजा थे तो क्या हुआ उन्हें अपनी बहन सुभद्राका अपहरण करवाना पड़ा। बाल-बच्चे सब-के-सब उनके सामने लड़ मरे। यदि आप उनके जीवनको एक साधारण मनुष्यका जीवन मानें तो ऐसा मालूम पड़ेगा कि इस आदमीकी जिन्दगी तो रोते-रोते ही गुजरी होगी। सचमुच श्रीकृष्णके जीवनमें दुःखके निमित्तोंकी कमी नहीं, वे दिन-रात विलाप कर सकते थे कि हाय-हाय हमारा तो सब-का-सब चौपट हो गया। परन्तु उनके जीवनकी विशेषता है कि उन्होंने कभी शोक नहीं किया।

अब आप जरा यह अनुभव करें कि श्रीकृष्णने हमलोगोंको क्या दिया है? स्मृतिका अर्थ होता है अनुभवजन्य ज्ञान—यह स्मरण कि पहले जब ऐसी घटना घटी तब मैंने उसका सामना कैसे किया? जिस प्रकार कोई यह रजिस्टर बना ले कि अमुक रोग आनेपर मैंने अमुक दवा ली और अमुक समस्या आनेपर अमुक समाधान किया, उसी प्रकार गीता भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी पोथी है, रजिस्टर है। इसमें इन्होंने जो संसारके सब धर्मोंसे विचित्र बात कही है, मैं केवल उसीकी तरफ आपका ध्यान आकृष्ट करता हूँ। किसी भी मजहबी किताबमें बुद्धिके लिए कोई स्थान नहीं, वह होती है विश्वास करनेके लिए। उदाहरणके लिए मनुस्मृति लीजिये। धर्मात्मा लोग कहते हैं; चूँकि मनुस्मृतिमें लिखा हुआ है इसलिए आपको ऐसा करना चाहिए। एकादशीको ही व्रत क्यों रखा जाता है दशमीको क्यों नहीं रखा जाता? यह पूछनेपर बताते हैं कि भाई! हमारे धर्म-ग्रन्थकी ऐसी ही मर्यादा है, आज्ञा है। इस प्रकारके विश्वासका प्रतिपादन अन्य धर्मग्रन्थोंमें भी है, चाहे कुरानशरीफ हो या बाइबिल हो। यह बात मैं जानबूझकर बड़ी जिम्मेदारीसे कह रहा हूँ। मैंने कुरानशरीफ पढ़ी है, बाइबिल भी बाँच ली है। गुरुग्रन्थ-

साहब भी देख लिया है। अपने जो भारतीय संस्कृतिके ग्रन्थ हैं उनका तो गिनना ही कठिन है।

गीताका कहना है कि तुम्हारे जीवनमें कैसी भी परिस्थिति क्यों न आ जाये, अपनी बुद्धिको डाँवाडोल मत होने दो। बुद्धिका जितना आदर गीतामें है उतना आदर संसारके किसी भी धर्म-ग्रन्थमें नहीं। तुम अपनी बुद्धि मत खोओ। अपनी बुद्धिकी शरण लो। अगर काममें, क्रोधमें, लोभमें तुम्हारी बुद्धि बिगड़ती है तो उसे सँभालो। जहर खानेसे शरीर बिगड़ता है; पर कुछ चीजें ऐसी होती हैं, जिनके खाने-पीनेसे बुद्धि बिगड़ती है। हम खाने-पीनेकी चीजोंका नाम तो नहीं गिनाते क्योंकि हम धर्मशास्त्री नहीं और न धर्मशास्त्रकी ओरसे आपको उपदेश कर रहे हैं। जिस वस्तुसे आपकी बुद्धिमें कोई त्रुटि आती हो, उसे आप अपने खाने-पीनेसे दूर रखें। शरीरको जहर खाता है और बुद्धिको नशा। तो थोड़ा-सा सँभलके रहना चाहिए। **न शं यथा**—जिससे कभी शान्ति नहीं मिलती उसका नाम नशा है। 'शा' माने शान्ति और 'न' माने नहीं। नशा शान्तिका साधन नहीं।

अब कीजिये गीतामें श्रीकृष्णका अनुस्मरण। अर्जुन हो गये दुःखी और सो भी साधारण नहीं—

**विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।** ( १.४७ )

( उनका मानस, उनकी सारी मनोवृत्तियाँ, मनके सारे आकार-प्रकार, संस्कार-विकार शोकसे संविग्न हो गये—उनमें शोककी लहरें उठने लगीं। उन्होंने धनुष-बाण फेंक दिया, अपने प्राप्त कर्त्तव्यसे विमुख होकर बैठ गये—**रथोपस्त उपाविशत्**।

श्रीकृष्णने कहा—भाई! दुःख तो सबके जीवनमें आता है, उद्वेग भी आता है। सृष्टिमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसके सामने दुःखके प्रसङ्ग न आये हों। यहाँ तक कि भगवान् रामके

घरमें भी दुःख आगया। तो उसके लिए तैयारी चाहिए। जन्म होता है, वियोग होता है, मृत्यु होती है, सम्पदा आती-जाती रहती है। इन परिस्थितियोंमें यदि हम ठीक हों तो सब ठीक रहेगा।

**रक्षत रक्षत कोषानाम् अपि कोषं हृदयम्।**
**यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं हि सुरक्षितं भवति॥**

खजानोंका खजाना है अपना दिल। अगर इसको आपने बचाकर रखा है तो सब बचा रहेगा, भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भाई अर्जुन! तुम्हारी निराशा है वह बेमौकेकी है। दुःख आनेसे मनुष्य निराश हो जाता है और उसका उत्साह ठण्डा पड़ जाता है। जब वह चलेगा नहीं तो अपने लक्ष्यपर पहुँचेगा कैसे? इसीसे हमारे महात्माओंने कहा कि जो मार्गमें चलता है उसका पाँव फिसल सकता है। गिरनेमें उसका अपराध नहीं, गिरकर न उठना अपराध है और उठकर न चलना अपराध है। अपराध तो वहाँ होता है जहाँ सिद्धि न हो। राधा माने सिद्धि और अपराध माने राधारहित—सिद्धिरहित।

**अपगता राधा यस्मात् असौ अपराधः।**

संस्कृत भाषामें एक श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है—

**क्रिया-सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।**

महापुरुषोंके जीवनमें जो कर्मकी सफलता है वह उनके सत्त्वमें निवास करती है, सामग्रीमें नहीं। उनके पास कितना उपकरण है, कितनी पूँजी है, कितने साथी हैं, इससे सफलता नहीं मिलती। सफलता इससे मिलती है कि उसका सत्त्व कैसा है? जब इस श्लोकके अर्थका विचार हुआ तब हमारे गुरुके गुरु—परमगुरु श्री शिवकुमारजी शास्त्रीने बताया कि सत्त्वका अर्थ अन्तःकरण नहीं होता कि उसमें सिद्धि है। सत्त्वका मतलब धैर्य या सहन-

शीलता भी नहीं कि सहते जाओ सिद्धि मिलेगी। सत्त्व माने सत्त्वगुण भी नहीं कि सत्त्वगुणी बन जाओ सिद्धि मिलेगी। तब सत्त्व माने क्या है? सत्त्व माने उत्साह। यह अर्थ उनको अपने गुरुओंसे प्राप्त था। उत्साह वीररसका स्थायी भाव है। साहित्यिक लोग इस बातको जानते हैं कि हमारे जीवनमें वीररस कैसे आ सकता है। जब उत्साह होगा तभी हम शत्रुको मार सकते हैं, मैदान फतह कर करते हैं, सफलता प्राप्त कर सकते हैं। जीवनमें यदि उत्साह ही भंग हो गया तब मर्द कहाँ रहे—नपुंसक हो गये। इसीलिए श्रीकृष्णने कहा—

**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। ( २.३ )**

नपुंसक मत बनो। जिसके जीवनमें काम करनेकी ढिठाई नहीं, धृष्टता नहीं, उसको संस्कृत भाषामें क्लीब बोलते हैं। क्लीब माने नपुंसक। इसलिए श्रीकृष्णने संकेत दिया—केवल भगवान्‌के नाते ही नहीं, सालेके नाते भी कि 'अर्जुन! नपुंसक मत बनो।' तुम्हारे जीवनमें यह हृदयकी जो क्षुद्र दुर्बलता है, वह तुम्हारी कमजोरी है। यह कमजोरी भी कोई मामूली नहीं, क्षुद्र है, स्वीकार करने योग्य नहीं—

**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं।**

यहाँ क्षुद्रं विशेषण है दौर्बल्यंका। अतः भगवान् कहते हैं कि इस क्षुद्र दौर्बल्यका परित्याग करो और उठो। अब आप बुद्धि-मानीकी बातपर फिर ध्यान दें—

**बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतवः। ( २.४९ )**

भगवान् कहते हैं कि यह प्रथम वचन है, बुद्धिकी शरणमें जाओ। गीतामें शरण शब्दका चार बार प्रयोग हुआ है, एक तो **बुद्धौ शरणमन्विच्छ।**

दूसरे स्वयं भगवान्‌ने अपना नाम शरण बताया है—**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षीः निवासः शरणं सुहृत्** ( ९.१८ ) । इस एक ही श्लोकमें भगवान्‌ने अपने बारह नाम बताये हैं ।

तीसरे **तमेव शरणं गच्छ**—ईश्वरकी शरणमें जाओ ।

चौथे **मामेकं शरणं व्रज** केवल मेरी शरण ग्रहण करो । इस प्रकार गीतामें शरण शब्दका चार बार प्रयोग हुआ है । यदि इन चारोंमें कोई अन्तर नहीं; तो—

**बुद्धौ शरणमन्विच्छ** यद्यपि यहाँ भगवान् अपना नाम लेकर अपनी शरणमें आनेके लिए नहीं कहते तथापि बुद्धिमें बैठे हुए हैं भगवान् वासुदेव । आपकी बुद्धि जब निष्पक्ष होती है, राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त होती है, शुद्ध होती है तब वासुदेव अपनी बुद्धिमें ही प्रकट होकर अपना ज्ञान प्रदान करते हैं । इसलिए **बुद्धौ शरण-मन्विच्छ**का तात्पर्य भी बुद्धि-प्रदाता भगवान्‌की शरणमें जाना ही है । क्या कोई धर्म-ग्रन्थ आपको यह छुट्टी दे सकता है कि आप बुद्धिकी शरणमें आओ ? वह तो कहेगा—

**धम्मं शरणं गच्छामि ।**
**संघं शरणं गच्छामि ।**
**बुद्धं शरणं गच्छामि ।**

धर्मकी शरणमें आओ । समाजकी शरणमें आओ । आचार्यकी शरणमें आओ ।

ईश्वरको जाने बिना जो मर जाता है वह कृपण है—

**एतदक्षरं अविदित्वा........स कृपणः** । ( वृहदा० ३.८.१०. ) यह उपनिषद्‌में कृपणकी परिभाषा है ।

यदि यह कहो कि भगवान्‌ने मामूली तरहसे बुद्धिकी प्रशंसा कर दी होगी तो ऐसी बात नहीं । इतनी प्रशंसा सारी गीतामें

किसी दूसरी वस्तु की है ही नहीं। एक प्रश्न यह उठ सकता है कि बुद्धिकी शरण लेनेसे फायदा क्या है ? इसका उत्तर यह है कि बुद्धिकी शरण ग्रहण करनेसे पाप और पुण्यका झगड़ा मिट जाता है, जो आपके सामने बहुत बार आता है।

**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। ( २.५० )**

गीता बोलती है कि सुकृत माने पुण्य और दुष्कृत माने पाप। यदि आप बुद्धिमान् होंगे तो पाप और पुण्यको यहीं छोड़ देंगे और उसे अपने आत्माके साथ नहीं जोड़ेंगे। यही परिभाषा पाप और पुण्यसे मुक्त होनेकी है और यही सुख-दुःखसे छूटनेकी युक्ति है—**कर्मजं बुद्धियुक्ता हि**। यदि आप बुद्धियोगी होंगे, बुद्धियुक्त होंगे, मनीषी होंगे तो कर्मके जो सुख-दुःखात्मक फल आते हैं उनसे बचकर निकल जायँगे। सुख आनेपर सुखी नहीं होंगे और दुःख आनेपर दुःखी नहीं होंगे। यहाँ मालूम पड़ता है कि श्रीकृष्णको इसका पूरा अनुभव है। **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः**—दुःख चाहे आयें चाहे जायें अपने मनको उद्विग्न मत होने दो, और **सुखेषु विगतस्पृहः**—सुखमें मनको फँसने मत दो। अपने मार्गपर चलते-चलो, चरैवेति-चरैवेति। अगर सुख दाहिने छूटता है तो दुःखको बायें छोड़ो और बिलकुल सीधे तीरकी तरह चलो। तुम्हारे सुख-दुःख पीछे रह जायें और तुम आगे बढ़ जाओ। पीछे छूटे हुए सुख-दुःखकी याद करनेकी कोई जरूरत नहीं। प्रकृतिका यह नियम है कि उनकी याद रहती भी नहीं। पहली चोट बड़ी भयंकर लगती है और वही दो दिन, तीन दिन, चार दिनके बाद उतनी भयंकर नहीं लगती। प्लेगके दिनोंमें मैंने देखा था कि पहला मुर्दा जितना भारी पड़ा बादमें वह सामान्य हो गया। रोज-रोज पाँच, दस, तीस मुर्दे सामने पड़े रहते और लोग कहते कि पहले कुछ खा लें तब ले चलेंगे।

तो सारा दुःख पहली चोटका ही होता है। यदि हम उसे सह लें तो वह साधारण हो जाता है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

शीतोष्णसुख-दुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः। (१२.१८)

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःख-सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (२.१५)

यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते—तात्पर्य यह है कि गीता अमृत है और हम उससे अमृतत्वकी प्राप्ति करके बुद्धिका आश्रय लेनेपर सुख-दुःखसे, पाप-पुण्यसे छुटकारा पा सकते हैं। बुद्धिमान् पुरुषको उसके कान तकलीफ नहीं देते—यह भी गीतामें है—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (२.५३)

कानोंने हमें बहुत तकलीफ दी है। हम कर्णजीवी-श्रुतिजीवी हो गये हैं और हमारी बुद्धि श्रुतिविप्रतिपन्ना हो गयी। तो मैं बुद्धिकी चर्चा कर रहा हूँ—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। (२.५२)

—ऐसे और भी कई प्रसङ्ग हैं। भगवान् श्रीकृष्णने बुद्धि शब्दका प्रयोग एक प्रसङ्गमें पाँच बारसे भी अधिक किया है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ (२.५२)

तो तुम सुनी हुई बातोंमें फँस गये हो और आगे भी न जाने क्या-क्या सुननेको मिलेगा—श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च। अभी तो यह सुनना बाकी है, वह सुनना बाकी है। यह सुना है, वह सुना है। इसमें तुम्हें मोह हो गया है। आगे ऐसी खबर सुननेको मिले, इसका भी मोह है और ऐसी-ऐसी खबरें पहले सुनी हैं, उनका

भी मोह है। यह मोह दलदल है। तुम्हारी बुद्धि मोहके इस दलदलमें न फँसे। संस्कृतमें 'मोह' शब्दका अर्थ है चित्तका विपरीत हो जाना। जब अपना मन ही अपनेको दुःख देने लगे तो समझ लो वह मोहका परिणाम है। एक आर्यसमाजी सज्जन हैं। वे लोग ज्योतिषको नहीं मानते; मुहूर्त नहीं मानते। फिर भी उन्होंने यह निश्चित किया कि उनके बेटेका विवाह नौ बजे वैदिक रीतिसे होगा, सात बजे बारात निकलेगी, आठ बजे पहुँचेगी और द्वारचार होगा। किन्तु बाजेवाले समयसे नहीं आये, बारात नहीं निकली। आठ बजते-बजते वे सज्जन बिल्कुल व्याकुल हो गये, पाँव पीटने लगे और बोले कि मुहूर्त बिगड़ा जा रहा है, नौ बजे कैसे शादी होगी? सबके ऊपर बरसे। उनकी बुद्धि व्याकुल हो गयी, चित्त विपरीत हो गया। व्याहके उछाहका दिन है और शोक आगया—दुःख आगया। हमारे एक मित्रने कहा—'भाई! मुहूर्त कौन वसिष्ठजीने लिखकर भेजा है। अरे नौ बजे नहीं होगा तो दस बजे व्याह हो जायेगा। मुहूर्त तो तुम्हारा ही बनाया हुआ है न?'

तो हम अपने मनसे ही कल्पना करके उसमें उलझ जाते हैं। पहले सोच लेते हैं इस काममें इतनी आमदनी होगी और उतनी न हुई आधी हुई तो दुःखी हो जाते हैं। क्या ईश्वरके पाससे दस्तावेज आया था कि इस काममें इतनी आमदनी होगी? तुम्हींने तो उतनी आमदनीकी कल्पना की थी। नहीं हुई तो न हुई। अबकी बार नहीं हुई आगे हो जायेगी। नैराश्य जो जीवनमें आता है वह अपनी कल्पनाका ही आता है। इसीको मोह बोलते हैं। मुह् वैचित्त्ये—चित्तका विपरीत हो जाना ही मोह है—

**यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। ( २.५२ )**

हम श्रुतको—सुनी हुई बातोंको अधिक पकड़ते हैं। एक

महात्माने हमको बताया था कि हम लोग जिनको अपराधी मान बैठते हैं, उनके अस्सी-नब्बे प्रतिशत अपराध आँखसे देखे हुए नहीं होते, कानसे सुने हुए होते हैं। तो—

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च। ( २.५२ )

कही-सुनी बातका क्या ठिकाना ? वह गलत भी हो सकती है, सही भी हो सकती है। कहनेवालेने अपनी दृष्टिसे सच कहा हो तो भी सबको समझनेमें, धारण करनेमें गलती हो सकती है।

तो भगवान् श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि अपनी बुद्धिको श्रुति-विप्रतिपन्न मत करो। उसने यह सुना दिया, वह सुना दिया, पर विश्वास न करके तुम्हें जज बनकर निर्णय करना चाहिए कि क्या गलत है, क्या ठीक है। सुने-सुनायेपर नहीं दौड़ना चाहिए। ऐसा तो गाँवोंमें होता है। सुसंस्कृत लोग ऐसा नहीं करते। मेरा जन्म ब्राह्मणोंके सात-आठ घरवाले एक छोटेसे गाँवमें हुआ है। मैंने देखा कि वहाँ एक दूसरेसे लड़ाई करनी होती तो कोई किसी स्त्रीसे कहता कि तुम्हें कुछ मालूम भी है कि अमुक तुम्हारे बारेमें ऐसा कह रहे थे कि वह तो मेरे पीछे पड़ी है। घूमती है मेरे पीछे-पीछे। इसपर वह स्त्री बोलती कि—अच्छा ! मुँहजलेने ऐसा कहा ? और पहुँच जाती उस अमुक व्यक्तिके पास, चार गाली सुना आती। वह हाथ जोड़ता कि नहीं, तुम हमारी माँ हो, तुम्हारे लिए मैंने कुछ नहीं कहा। बड़ा आदर है तुम्हारे प्रति। किन्तु वह नहीं मानती, गाली देती जाती और कहती कि नहीं, नहीं तुमने जरूर कहा होगा।

तो यह सुने-सुनायेपर दौड़ जाना है। किसीने कहा कि 'अरे, तुम्हारा कान तो कौआ ले गया।' अब वह कान तो देखता नहीं, डण्डा लेकर पीछे दौड़ता है कौवेको मारनेके लिए। तो—

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्त श्रुतस्य च।

हम एक महात्माके पास जाते थे तो वे हमें गाली देते थे। खूब देहाती प्रोग्राम होता था। एक दिन वे बहुत खुश थे तो मैंने उनसे पूछा कि 'आप गाली क्यों देते हैं ?' इसपर वे और वे नाराज हो गये। कुछ देर बाद शान्त हुए तो बोले—हमारी गाली तुमको बुरी लगती है ? अरे ! गाली सहनेकी आदत डालो, यह जीवनमें काम देगी। अभी न जाने कितनी गालियाँ तुमको सुननेको मिलेंगी। ससुरालकी गाली प्यारी लगती है और हमारी गाली बुरी लगती है। ससुरालसे जितना प्रेम है उतना तो महात्मासे होना चाहिए भाई !

जैसा कि मैंने आपको पहले बताया कि भगवान् श्रीकृष्णके जीवनको एक पहलूसे देखें तो दुःखके इतने निमित्त हैं, इतने निमित्त हैं कि वे उनपर ध्यान दें तो हमेशा दुःखी रह सकते हैं। परन्तु वे उनपर ध्यान ही नहीं देते और नाचते हैं, गाते हैं, बजाते हैं, हँसते हैं, मुस्कुराते हैं। जो उनका ध्यान करे उसका भी दुःख दूर कर देते हैं। यही कहते हैं कि हमारी याद करो और देखो कि मैं दुःखमें कैसे रहता हूँ, सुखमें कैसे रहता हूँ। याद करनेका यह मतलब हुआ कि उनसे सीखो कि वे सुखमें, दुःखमें कैसे रहते हैं ? व्रजवासियोंने, गोपियोंने उनको कितना सुख दिया, परन्तु जब वहाँसे निकले तो ऐसे निःस्पृह होकर निकले जैसे कुछ हुआ ही नहीं। यह सीखनेकी बात है। यदि हम उन्हें गोपियोंको सुख देनेवाला न मानें तो उनके चित्तमें निःस्पृहता थी, वैराग्य था, त्यागकी भावना थी और वे मोहमें नहीं फँसते थे। यह कैसे मालूम पड़े ? उनके इन वचनोंका महत्त्व किस प्रकार ज्ञात हो—

**मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।**
**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ (२.१४)**

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (२.१५)

अब आपको एक दूसरी बात सुनाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सांख्यको सांख्य, कर्मको कर्म और ज्ञानको ज्ञान नहीं मानते। इन सबको बुद्धियोगकी संज्ञा देते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु। (२.३९)

सांख्यमें भी बुद्धि है और योगमें भी बुद्धि है। जहाँ बुद्धि नहीं होगी वहाँ ज्ञानयोग कहाँसे होगा? सांख्ययोगकी बुद्धि अलग, कर्मयोगकी बुद्धि अलग; परन्तु बुद्धि दोनोंमें है। इसका अर्थ हुआ सांख्य और कर्म व्याप्य हैं और बुद्धि व्यापक है। वह दोनोंमें है, इसलिए बड़ी भारी हो गयी। बुद्धिमत्तासे ही ज्ञानयोग योग होता है और बुद्धिमत्तासे ही कर्मयोग योग होता है।

अब देखो इसमें जीवनका समन्वय हो गया। जीवन क्या है, एक बुद्धि है। बुद्धि क्या है, तत्त्वके सम्वन्धमें अपनी समझको ठीक रखना है। जैसे आपके घरमें कोई मशीन बनती है, यह समझना और किस साँचेमें, किस डिजाइनकी, किस कामके लिए बनती है, यह भी समझना। कर्मयोग डिजाइन है, आकृति है, बनावट है। कर्मके द्वारा कुछ बनाया जाता है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है और सच्चा है। ज्ञान जाननेका साधन है, बनानेका नहीं। वस्तुको पहचानना ज्ञान है और उससे कुछ बनाना कर्म है। बुद्धि दोनोंमें है, इसलिए इसका अर्थ है—आपका जीवन एक बुद्धि है। आप उस मसालेको भी पहचानिये जिससे अल्म्युनियम निकलती है, कागज निकलता है और उन चीजोंको बनाना भी सीखिये-समझिये।

सांख्य बुद्धिका नाम है तत्त्वबुद्धि। तत्त्व उसे कहते हैं जिसमें आकार आरोपित होते हैं। आकारके आरोपणके पूर्व वस्तुकी जो

स्थिति है, उसको तत्त्व बोलते हैं—**अनारोपिताकारं तत्त्वम्** कंगन, कुण्डल अथवा हार—कुछ भी बननेसे पहले जो स्वर्णका स्वरूप है वह तत्त्व है। घड़ा बननेके पहले, घड़ा बन जानेपर, घड़ा फूट जानेपर, उसमें घड़ेके आरोपसे विनिर्मुक्त जो मृत्तिका है, उसका नाम तत्त्व है तो तत्त्वज्ञान होना चाहिए। देखो जो लोग मोटर-की, मशीनकी जानकारी रक्खे बिना मोटर चलाते हैं उन्हें कहीं मोटर रुक जानेपर खड़ा होना पड़ता है; क्योंकि उन्हें मोटर सुधारना नहीं आता। उनके पास चलानेका लाइसेंस होता है, फिर भी उनको खड़ा होकर यह देखना पड़ता है कि कोई ड्राइवर आजाये उनकी मोटर खोलकर सुधार दे। तो जानकारी भी होनी चाहिए और स्वयं करनेका ज्ञान भी होना चाहिए।

सांख्यबुद्धि और कर्मबुद्धिको ही सांख्ययोग और कर्मयोग बोलते हैं और ये दोनों ही बुद्धि हैं। सांख्ययोगमें मुख्य रूपसे दो बातें समझायी गयी हैं। एक तो आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अविनाशी है। इसको अनुभवके क्षेत्रमें समझना आसान नहीं है। ऐसा कोई माईका लाल न पैदा हुआ है, न है और न होगा, जो यह अनुभव कर ले कि मैं मर गया। कितनी सीधी बात है कि वह मर गया कह सकते हैं। वह मर जायगा कह सकते हैं, मैं मर जाऊँगा ऐसा भी आप कह सकते हैं लेकिन मैं मर गया, यह अनुभव कभी किसीको हो ही नहीं सकता। यदि कोई कहे कि हमको अनुभव हो रहा है कि मैं मर गया तो अनुभव करनेवाला जिन्दा है कि नहीं ? माने आत्माको कभी यह अनुभव नहीं हो सकता कि मैं मर गया। यदि कोई कहे कि आत्मा अनुभव कर सकता है कि मैं अज्ञानी हूँ तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि मैं अज्ञानी हूँ, यह अनुभव करना भी ज्ञान है फिर अज्ञान कहाँ हुआ ?

तो आत्मामें न कभी मृत्यु आ सकती है न कभी अज्ञान आ सकता है। आपलोग जिस प्रकार सहजभावसे व्यापारपर

विचार करते हैं उसी प्रकार उससे कम बुद्धि लगाकर आत्माका चिन्तन करें और यह देखें कि मैं कौन हूँ तो मौत आपके पास नहीं आयेगी और आप यह अनुभव करेंगे—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ ( २.१३ )

यह मत देखो कि मैं कहाँसे आया, कैसे पैदा हुआ ? पैदा हो चुके। इसका भी ज्यादा ख्याल रखनेकी जरूरत नहीं कि आगे क्या होगा ? जो होना होगा, सो होगा। यह जो आपका लवाजमा है वह कभी साथ रहेगा, कभी नहीं रहेगा। जब अनासक्त भावसे रहोगे तो लवाजमा न रहनेपर भी, सामग्री न रहनेपर भी सुखी रहोगे और आसक्त रहोगे तो इसके छूटनेका डर रहेगा।

शोक कहते हैं बीती हुई बातमें फँसावको, भूतवृत्तिको, हमारे पास इतना वैभव था, हमारा यह खो गया—पिछले वैभवकी स्मृति और पिछली विपत्तियोंकी स्मृति। बीती हुई घटनाओंके द्वारा प्रभावित होना—इसका नाम शोक है। आगे दुःख आ जायेगा, इसके लिए भविष्यद्वृत्ति भय होता है। वर्तमानवृत्ति, कि हमारे सामने बना रहे मोह होता है। तो भगवान् कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ( २.११ )

संस्कृत भाषामें पण्डित शब्दका अर्थ होता है—पण्डा सञ्जाता अस्य इति पण्डितः। सदसद्विवेकिनी बुद्धिका नाम है पण्डा और वह जिसके जीवनमें पैदा हो गयी उसका नाम है पण्डित। नानुशोचन्ति पण्डिताः—पण्डितकी पहली पहचान यह है कि पण्डितको शोक नहीं होता—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः। ( ४.१९ )

पण्डितको पाप-पुण्य चिपकते नहीं, बुद्धिमान् पुरुष पाप-पुण्यको नहीं पकड़ता और न शोक करता है। वह गये-आये अथवा जिन्दा-मुर्देके लिए भी शोक नहीं करता। जो हो रहा है उसके लिए पण्डित समदर्शी होता है—**पण्डिताः समदर्शिनः**। गीताके पण्डितका अर्थ बुद्धिमान् ही है। मैं समझता हूँ आप सब लोगोंने गीता पढ़ी है। सुनते हैं हमारे देशके एक विद्वान् जर्मनी जानेपर वहाँके किसी विद्वान्से मिले तो उसने सर्वप्रथम गीताकी चर्चा की। इनको गीताके विषयमें कुछ मालूम नहीं था। उस विद्वान्ने बताया कि मैंने नब्बे बार गीता पढ़ी है। तुम कैसे भारतीय हो कि गीताका नाम भी नहीं सुना है ?'

तो गीता न पढ़ना एक अपमानकी बात हो जाती है। आप सब लोग तो गीताके बड़े-बड़े जानकार हैं, जीवन भर गीताका पाठ करनेवाले हैं। महात्मा गांधीने, लोकमान्य तिलकने, हमारे गीताप्रेसवालोंने गीताको बहुत सुलभ कर दिया है। तो गीता पढ़नी चाहिए। बुद्धिमानी इसीमें है कि हमारे जीवनमें शोक, मोह और भयका प्रवेश न हो, ऐसा होनेपर ही हमें समझना चाहिए कि हम गीताका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। तो तत्त्वके सम्बन्धमें दो बातपर केवल ध्यान रखें—

एक तो यह आत्मा अविनाशी है, अप्रमेय है—**अनाशिनोऽप्रमेयस्य**। कभी भी अपने अनुभवमें इसकी मृत्यु नहीं आ सकती। न अबतक आयी है और न आगे आयेगी। आप कभी मरे नहीं। अगर मर गये होते तो आज होते कहाँसे ? तो आज हैं—यह इस बातका प्रमाण है कि आप अबतक कभी मरे नहीं।

दूसरी बात यह है कि संसारकी सब वस्तुएँ अदलती-बदलती रहती हैं किन्तु आत्मामें कोई परिवर्तन नहीं होता। आत्मा कभी मरता नहीं और संसार कभी रहनेवाला नहीं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। ( २.१६ )
न जायते म्रियते वा कदाचित्। ( २.२० )

यह तो हुई आत्माकी वात। अब जो यह वुद्धि डाँवाडोल हो जाती है, टिकती नहीं, यह प्रश्न मनुष्यके जीवनमें अवश्य आता है। भगवान् श्रीकृष्ण इसकी भी युक्ति वताते हैं कि हमारी वुद्धि किस प्रकार स्थिर हो ? इसके लिए भगवान्ने मुख्य रूपसे छह युक्तियाँ वतायी हैं—

**प्रजहाति यदा कामान्** (२.५५) **यः सर्वत्रानभिस्नेहः** (२.५७) **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः** ( २.५६ )—एक तो हम कामनाके वशमें न हों। हम रामकी प्रेरणासे चल रहे हैं कि कामकी प्रेरणासे ? रामकी प्रेरणा माने वासना-विनिर्मुक्त प्रेरणा। और **नाभिनन्दति न द्वेष्टि** ( २.५७ ) हम अभिनन्दन करने अथवा द्वेष करनेमें लग जायेंगे तो हमारी वुद्धि डाँवाडोल, पक्षपाती, पार्टीवन्दीवाली हो जायेगी। पार्टीका सबसे वड़ा अभिशाप है कि वह स्वयंको दूधका धुला, बिलकुल स्वच्छ, शुद्ध मानती है और दूसरी पार्टी चाहे कितनी भो वढ़िया हो उसे वुरा मानतो है। दूसरी पार्टीका अच्छा भी बुरा और हमारी पार्टीका वुरा भी अच्छा है। इसमें लगता है पाप, अपराध और इस अपराधके कारण वादमें पार्टियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, टूट जाती हैं। तो अभिनन्दन और द्वेषसे, राग और द्वेषसे बचना चाहिए।

उसके बाद आता है—

**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।** ( २.५६ )

•

## प्रवचन—३

( १८-११-१९७४ )

**या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ।**

गीता भगवान्‌का हृदय है, ऐसा उसके माहात्म्यमें कहा गया है—**गीता मे हृदयं पार्थ**—अर्जुन, गीता मेरा हृदय है। भगवान्‌ने इसको बहुत प्रेमसे सँजोकर रखा था। पर जब अर्जुनको शोक-ग्रस्त—**शोकसंविग्नमानसः** देखा तो भगवान्‌के भीतर बड़े प्रेमसे सँजोयी हुई गीता स्वयं छलक पड़ी। भगवान्‌ने स्वयं गीताको अपने हृदयसे बाहर नहीं निकाला, वह भगवान्‌के काबूमें नहीं रही। भगवान्‌के वशमें सारी सृष्टि है, परन्तु उनकी करुणा उनके वशमें नहीं। यह परमेश्वरकी एक लीला है। **मुखपद्मा-द्विनिःसृता**का अर्थ ही है कि वेदकी अपेक्षा भी गीतामें कुछ सौन्दर्य है। वह क्या है? भगवान्‌की नाभिसे निकला एक कमल, कमलपर हुए ब्रह्मा, ब्रह्माके मुखसे निकले वेद। तो नाभि एक तो मुखसे नीचे है। दूसरे गीता स्वयं भगवान्‌के मुखकमलसे साक्षात् निकली। तो वह ब्रह्मा और वेद दोनोंकी अपेक्षा अपने सौन्दर्यको अधिक प्रकट करती है। हृदयकी वस्तु नाभिमें गयी, नाभिसे कमलमें और कमलसे ब्रह्मामें प्रकट हुई—यह वेदकी परम्परा है। वेद भी भगवान्‌के हृदयसे ही प्रकट हुआ, परन्तु उसके पहले कई लोग आगये। गीता हृदयसे मुखमें आकर प्रकट हुई। ज्ञानका स्थान मुख ही है। आप जानते ही हैं कि विराट्-भगवान्‌के मुखसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई! तो कान मुखमें, हाथ

मुखमें, नासिका मुखमें, रसना मुखमें, त्वक् मुखमें—ये सब ज्ञानके साधन हैं। ज्ञान प्रधान विराट्का अंग है मुख। ज्ञानके अधिकांश साधन शरीरके ऊर्ध्वभागमें ही निवास करते हैं। इसलिए उसका प्राकट्य भगवान्के मुखकमलसे ही होना चाहिए। तो गीता विशेष हो गयी। जैसे हिन्दीमें विशेषता बोलते हैं वैसे संस्कृतमें विशेष बोलते हैं।

अर्जुन और श्रीकृष्णका जो सम्बन्ध है वह बहुत मधुर है। महाभारतमें कहा है—

**नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्।**

एक तत्त्व है, एक सत्ता है और नर-नारायण अर्जुन-कृष्ण दोनोंके रूपमें प्रकट हुई है। नर और नारायण माने जीव और ईश्वर। अर्जुन जीव हैं तो श्रीकृष्ण ईश्वर हैं। जीव-ईश्वर दोनों एक ही तत्त्व हैं। एक बार संजय धृतराष्ट्रके पास गये और निवेदन किया कि आप अपने पुत्रोंको समझाओ कि कृष्ण तथा अर्जुन दो नहीं—

**कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।**

अर्जुनकी आत्मा कृष्ण है, कृष्णकी आत्मा अर्जुन है। महाभारतके उद्योग पर्वमें यह प्रसङ्ग है। उभयो अन्तरं नास्ति दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। अर्जुन; जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुमसे प्रेम करता है वह मुझसे प्रेम करता है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे स्पष्ट कहा—

**यस्त्वां द्वेष्टि स माम् द्वेष्टि यस्त्वामनु स माम् अनु।**

खाण्डव वनदाहके प्रसङ्गमें इन्द्रने श्रीकृष्णसे कहा कि 'वर माँग लो। तुम मनुष्य रूपमें हो, हम वेदरूपमें हैं। हम तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं। हमसे वर माँगो।' श्रीकृष्णने यह नहीं कहा कि मैं परमेश्वर हूँ वर नहीं माँगता। बल्कि वे बोले कि देवराज,

आपकी कृपा है, मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरी और अर्जुनकी मैत्री सर्वदा बनी रहे। इसमें कभी व्यवधान न पड़े, अन्तर न आवे। इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है श्रीकृष्ण और अर्जुनका। आप अर्जुनकी वाणी देखिये—

**ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।**
**तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥( ३.१ )**
**व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। ( ३.२ )**

'श्रीकृष्ण, तुम हमारी वुद्धिको मोहित करते हो? मिली-जुली वात करते हो? स्पष्ट क्यों नहीं बोलते?'

इसमें भी बुद्धिकी ही बात है। अर्जुनने श्रीकृष्णको उलाहना दिया कि तुम मेरी बुद्धि बिगाड़ रहे हो। कैसे मित्र हो? यहाँ बुद्धि शब्दका अर्थ है कि हम अपने जीवनके जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य हैं, उनका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें और ज्ञान प्राप्त करनेके बाद उनको अपने जीवनमें क्रियान्वित करें। बुद्धि बाँझ नहीं होनी चाहिए, निष्क्रिय नहीं होनी चाहिए। बुद्धि फलप्रद होनी चाहिए—समझें और करें।

तो सांख्यवुद्धि भी बुद्धि है, योगवुद्धि भी वुद्धि है। इसलिए गीतामें वुद्धिकी बहुत भारी महिमा है। पहले मैं कह चुका हूँ कि संसारमें जितने भी धर्मग्रन्थ हैं उनमें बुद्धिकी महिमा नहीं, श्रद्धाकी महिमा है। धर्म श्रद्धा-प्रधान होता है, वुद्धि-प्रधान नहीं। लेकिन गीता बुद्धि-प्रधान है। वह धर्मग्रन्थ नहीं, दर्शनग्रन्थ है। दर्शन भी केवल आत्माका नहीं, कर्मवादी दर्शन है। हमारे भोगका भी दर्शन है, जीवनका भी दर्शन है। हमारी वुद्धि जिन कारणोंसे डाँवाडोल होती है उनमें पहला कारण हीनभाव है। जब हम अपनेको हीन समझते हैं, हमारे मनमें हीनताका भाव बैठ जाता है—हमारे पास यह नहीं, वह नहीं, तव हम अपनी कमियोंको

देखने लगते हैं और यह समझने लगते हैं कि हमको अमुक वस्तुसे सुख-शान्ति मिलेगी। अपना मूल्यांकन कम हो जाता है, दूसरेका मूल्यांकन बढ़ जाता है। तो जीवनमें जिसको अपनी विद्यापर, अपनी बुद्धिपर, अपने कर्मपर आस्था नहीं; दूसरेकी विद्या, दूसरेकी बुद्धि, दूसरेके कर्म, दूसरेका धन जिसके लिए आदर्श है वह अपनेमें हीनताका अनुभव करता है। जब हीनताका अनुभव करता है तब असन्तुष्ट हो जाता है। इतना रूखा, सूखा, भूखा हो जाता है कि यहाँसे यह लें, वहाँसे यह लें की प्रवृत्ति हो जाती है उसकी। ऐसी स्थितिमें वह ज्ञानकी भी चोरी करता है, बुद्धिको भी चोरी करता है, धनकी भी चोरी करता है और दूसरोंके पराधीन हो जाता है। हीनताके अनुभवका परिणाम ही यह है कि मनुष्य पराधीन जीवन व्यतीत करने लगता है और आप जानते हैं—

**पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।**

हमने एक चुटकुला पढ़ा था। कहीं मोरका बच्चा रो रहा था। उसकी माँने पूछा क्यों रोते हो? उसने बताया कि सामनेवाले पेड़पर जो मैना रहती है उसका बच्चा कितना मधुर-मधुर बोलता है। वैसी मीठी बोली मेरे पास नहीं, इसलिए मैं रो रहा हूँ। उसकी माँ उसे लेकर दूसरे पेड़पर चली गयी तो वहाँ मैनाका बच्चा भी रो रहा था और उसकी माँ पूछ रही थी कि तुम रोते क्यों हो? वह जवाब दे रहा था कि हमारे पड़ोसी मोरके बच्चेका शरीर जितना सुन्दर है उतना मेरा नहीं। तो मैनाके बच्चेको अपनी आवाजकी मिठास मालूम नहीं और मोरके बच्चेको अपने शरीरके सौन्दर्यका बोध नहीं।

जब हम दूसरेको महान् और अपनेको हीन समझने लगते हैं तब हमारी बुद्धि दूसरेको वस्तु प्राप्त करनेके लिए व्याकुल हो

जाती है। आप जानते हैं कि जो व्यापारी व्यापारमें घबरा जाता है वह घाटेका काम जरूर करता है। घबरानेपर व्यापारी कोई-न-कोई ऐसा सौदा जरूर कर बैठता है जिसमें उसे हानि-ही-हानि उठानी पड़ती है।

तो श्रीकृष्णने बुद्धिके सम्बन्धमें पहली बात बतायी—

> प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
> आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ (२.५५)

अपनी कामना ही आपको दूसरेके पास ले जाती है। कामना कहती है कि यह विषय महत्त्वपूर्ण है, इसको प्राप्त करो। कामना आपको आपके अपने दिलसे उठाकर दूसरी वस्तुके पास बैठा देती है। यह कामनाका स्वभाव है। तो इससे बचिये। प्रजहातिका अर्थ मिटाना नहीं होता बचना होता है। गीतामें 'जहि' और 'प्रजहि' दो शब्द आये हैं और दोनों कामनाके सम्बन्धमें ही हैं—

> तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
> पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ (३.४१)
> जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ (३.४३)

तो 'जहि'का अर्थ है मार डालो और 'प्रजहि'का अर्थ है छोड़ो! दोनोंकी साधनाका अन्तर है। एकमें इन्द्रियोंके निरोधसे कामनाका परित्याग और दूसरेमें आत्मज्ञानसे कामनाका हनन। एकमें आत्मज्ञानसे शत्रुका नाश और दूसरेमें इन्द्रिय-निरोधसे पाप्माका प्रहान है। तो अब यह विवेक हो गया, बुद्धियोगोके लिए कामनाका नाश आवश्यक नहीं, कामनासे बचकर चलना-आवश्यक है। बचकर चलनेका अर्थ ऐसी सावधानी है कि वह हमको अपने हाथमें लेकर ऐसे विषयमें न डाल दे, जहाँ हम पराधीन हो जायँ। आत्माके लिए मृत्यु, दुःख, अज्ञान और पराधीनता—ये चारों एक ही वस्तुके नाम हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद्

( १.६.२८ ) जहाँ अभ्यारोहका वर्णन है वहाँ इन चारोंको एक बताया गया है। जो असत् वह तम है। जो तम है वह असत् है। जो असत् है वह मृत्यु है, जो मृत्यु है वह असत् है। इसलिए कामना हमें कहीं ऐसे घरमें न डाल दे, जहाँ हम पकड़े जायँ, बाँधे जायँ।

कामना-वशवर्ती यह नहीं देखता कि हम अमुक घरमें घुस जायेंगे तो निकलनेका रास्ता मिलेगा या नहीं ? तो बन्धनका हेतु है काम।

आत्मतुष्टिका अर्थ है अपने आपमें अपने आपसे सन्तुष्ट रहना आत्मन्येवात्मना तुष्टः। आप सब काम कीजिये पर ध्यान रखिये कि जिस काममें हाथ लगायेंगे वह काम बढ़िया हो जायेगा। आप जो कर्म करेंगे उस कर्मको अपने हाथकी कला देंगे, अपने नेत्रका सौन्दर्य देंगे, हृदयका सौन्दर्य देंगे, अपने बुद्धिसे सँवारेंगे। तो आत्मन्येवात्मना तुष्टःका अर्थ है कि जो भी काम कीजिये अपनेमें सन्तुष्ट रहकर कीजिये। इसमें आपकी बुद्धि बिगड़ेगी नहीं, डाँवा-डोल नहीं होगी, स्थित हो जायेगी। जिसकी बुद्धि डाँवाडोल है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। एक आदमी कभी कुछ कहे और कभी कुछ कहे, अपने कहे हुएसे बदल जाय, नाना रूप धारण करे तो क्या समाजमें उसकी प्रतिष्ठा रहेगी ? इसलिए बुद्धि स्थिर रहनी चाहिए। **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**का अर्थ है कि प्रज्ञा प्रतिष्ठित है—अर्थात् अपने लिए भी विश्वासभाजन है और दूसरेके लिए भी विश्वासभाजन है। यदि आपकी बुद्धि डाँवा-डोल नहीं होगी, एक निश्चयपर स्थिर होगी तभी आप बिलकुल ठीक काम कर सकेंगे। अतः आप अपने भीतर हीनताका भाव न ले आयें और सन्तुष्ट रहकर सारा काम करें अन्यथा असन्तोषमें बुद्धि विपरीत हो जायेगी।

अब दूसरी बात यह बताते हैं कि आपके सामने प्रिय-अप्रिय घटनाएँ घटित होती हैं, कभी प्रिय आता है, कभी अप्रिय आता है। ऐसा संसारमें कोई नहीं हुआ, जिसके घरमें, जिसके जीवनमें, जिसके मनमें प्रतिकूल घटनाएँ न घटी हों। आप दिन भरमें दस बार यह सोचते हैं कि इसने ऐसा क्यों नहीं किया? आप जो दूसरेकी बुद्धिका ठेका ले लेते हैं उसके कारण आपको बहुत दुःख होता है। आप थोड़ा इसपर ध्यान दें कि हर शरीरमें अलग-अलग मन होता है, अलग-अलग संस्कार होते हैं। आप जब दूसरेसे यह अपेक्षा रखते हैं कि यह मेरे ही मनके अनुसार काम करे तो आप उसको मनुष्य नहीं समझते, खिलौना समझते हैं। बड़ा भारी तिरस्कार उस व्यक्तिका होता है जिससे आप यह अपेक्षा रखते हैं कि यह अपनी प्रियताके अनुसार काम न करे, बल्कि हमारी ही बुद्धिके अनुसार काम करे, हमारी ही प्रियताके अनुसार काम करे। हम ऐसे सैकड़ों पति-पत्नियों, बाप-बेटोंको जानते हैं जो यह कहते हैं कि हमारे ही मनके अनुसार काम होना चाहिए और इसीलिए उनमें झगड़ा होता है। तो सामनेवालेका मन क्या कोई खिलौना है? अतः काम मिल-जुलकर करना चाहिए। दोनोंका मन एक हो, दोनोंकी बुद्धि एक हो तभी मिलकर काम हो सकता है। तो ज्ञान सबका एक हो, मन सबका एक हो, संवाद—भाषण सबका एक हो। संवाद माने मतभेद नहीं, मतमेल है। चलनेमें भी संगति हो, पाँव उठानेमें भी संगति हो, बोलनेमें भी संगति हो, संकल्पमें भी संगति हो और ज्ञानमें भी संगति हो :

**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**

दुःख आता ही वहाँ है, जहाँ हम यह प्रयत्न करते हैं कि दूसरे लोग हमारे मन, हमारी बुद्धिके अनुसार ही चलें। इसलिए

दुःखसे बचनेका उपाय यह है कि हमें दूसरेकी बुद्धि और दूसरेके मनका आदर करना सीखना चाहिए—

> दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।
> वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (२.५६)

आपका विचार पक्का हो जाये, दुःख आनेपर आपका उद्वेग न हो, आपके भीतर जो शक्ति है, वह दुःखका सामना करनेके लिए है, दुःखसे हारनेके लिए नहीं। यह जो ईश्वरपर विश्वास रखना है वह बड़े आत्मबलकी वस्तु है। उसको लोग जवानीमें नहीं समझ पाते।

जैसे एक सैनिक युद्धभूमिमें अकेला रह जाये और उसको यह विश्वास हो कि हमारे पीछे सेनापति है, सेना है, राष्ट्र है तो वह अकेला भी अपने मनको गिरने नहीं देगा, उत्साहके साथ लड़ेगा। जिसको यह विश्वास रहता है कि ईश्वर हमारे पीछे है, हमको शक्ति दे रहा है वह अकेला पड़ जानेपर भी अपना विश्वास नहीं खोता।

अब मैं आत्म-बलकी बातको व्यावहारिक रूपसे बताता हूँ। एकबार ईश्वर-विश्वासको अलग रख दीजिये। दर्शन केवल एक पक्षकी बात नहीं करता, सब पक्षोंकी बात करता है। जहाँ हमारी बुद्धि और कर्म दोनों साथ-साथ काम करते हैं, वहाँ हमारा आत्म-बल बढ़ता है। जहाँ विचारोंमें कुछ है और क्रियामें कुछ हो रहा है, वहाँ आत्मबल घट जाता है। ज्ञान और कर्म दोनोंके समुच्चयका नाम ही आत्मबल है।

हमारी बुद्धि जैसा सोचती है, शरीरसे हम वैसा ही काम करते हैं। जहाँ हम यह सोचते हैं कि हमारे जैसा बलवान् सृष्टिमें और कोई नहीं, वहाँ आत्मबल होता है।

**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः** आप यह मत सोचें कि हमारे आस-पाससे तूफान गुजर रहा है। यह सोचें कि हम किस प्रकार तूफानके बीचमें-से चीरकर निकल सकेंगे। ऐसा सोचनेपर तूफानकी परवाह करनेकी कोई जरूरत नहीं होगी।

दुःखेषु बहुबचन है। इसका अर्थ है बहुत सारे दुःख आते हैं। दुःख माने हमारे हृदयाकाशकी दूषित मूर्ति। जब हमारे हृदयमें वासनाका तूफान बहता है और हम यह मानने लगते हैं कि ऐसा हमारे मनके अनुसार नहीं हुआ तब हमको दुःख होता है। दुनियामें गर्मी-सर्दी संयोग-वियोग आदि तो प्रकृतिके नियमानुसार आते ही हैं। हम व्यर्थ ही कहते हैं कि यह क्यों आगया? भक्त भी, जिसके हृदयको हम बहुत कोमल समझते हैं यह सोचता है कि इस दुःखमें हम हार न जायें। श्रीयामुनाचार्यजीका वचन है:

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा
सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।

हमारे लिए अभूतपूर्व अर्थात् नयी बात क्या होगी? हमारे लिए तो दुःख सहज है। हमने तो अवतक हजारों दुःख देखे हैं, हजारों जन्म देखे हैं, हजारों लोग मिले हैं और विछुड़े हैं। परन्तु नाथ! हम आपके शरणागत हैं। हम दुःखसे हार न जायँ:

**किन्तु त्वदग्रे शरणागतानाम् पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः।**

यदि दुःख आनेपर हम उद्विग्न हो जाते हैं और बहादुरीके साथ सामना नहीं करते तो उसमें हमारी हार नहीं, हम जिसके सैनिक हैं उस राजाकी हार है। सैनिककी हार राजाकी हार होती है। परमेश्वरके सैनिक यदि हार मान लेंगे तो परमेश्वरकी हार हो जायेगी। **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः**—ये दुःख आगमापायी हैं—आते हैं और जाते हैं। हमने अपने जीवनमें कितने दुःख देखे होंगे,

लेकिन अब उनकी याद नहीं आती। ये तो विस्मरणशील हैं। अभी जो दुःख मालूम पड़ता है वह तीन घण्टेके बाद कम होगा, तीन दिनके बाद और कम होगा, तीन महीने बाद और कम होगा, तीन वर्ष बाद तो याद दिलानेपर ही उसकी याद आयेगी। यदि कहीं दस-पाँच वर्ष बीत गये तो याद दिलानेवाले भी नहीं रहेंगे। तो ऐसे तुच्छ दुःखके लिए, क्षुद्र दुःखके लिए—जो क्षणमें आते और क्षणमें चले जाते हैं अपने मानसको उद्विग्न क्यों करना?

उद्विग्नवालेकी बुद्धि डाँवाडोल हो जाती है। मन है क्षणिक। जैसे क्षण-क्षण होता है, वैसे कण-कण होता है। क्षणके साथ ही कण बदलते हैं और कणके साथ ही क्षण बदलते हैं।

यह जो मन है वह कण और क्षण—विषयोंके कण और कालका क्षण—दोनोंको मिलाकर बदलता रहता है। यह आवश्यक नहीं कि मनपर सब बातोंका संस्कार पड़े। दुनियामें हम जितना देखते हैं सबका संस्कार नहीं पड़ता। हमने कालबादेवी रोडमें हजारोंकी भीड़ देखी है, परन्तु उनमें-से किसीको याद आती है? परन्तु जब हम मनके साथ बुद्धि लगाकर देखते हैं, हमारे मनके साथ जब उपेक्षा नहीं रहती, अपेक्षा आ जाती है तब उसका संस्कार पड़ता है। उपेक्षाका अर्थ तटस्थ होकर देखना और अपेक्षाका अर्थ अपनी नजरको खो बैठना है।

अप माने अपगत। जब हम अपनेको नहीं, अन्य वस्तुओंको देखने लगते हैं तब अपेक्षा हो जाती है। अपनेको भूलकर दूसरेको देखना अपेक्षा है। संस्कार केवल मनसे अथवा कर्ममात्रसे नहीं पड़ता। जब हम किसी वस्तुको इस अपेक्षा बुद्धिसे देखते हैं कि यह हमारे सामने न आये अथवा यह हमारे सामने हमेशाके लिए बनी रहे तब उस वस्तुका संस्कार पड़ता है। इसलिए यदि बुद्धि ठीक

हो तो मनमें आयी हुई बातोंका, संकल्पोंका संस्कार नहीं पड़ता। वे आते हैं और चले जाते हैं :

**सुखेषु विगतस्पृहः**—इस संसारमें सुख-दुःखकी धारा बह रही है। कितने सुख-दुःख आये और चले गये। हम बनारस जाते हैं तो गंगाजीके तटपर घूमने आते हैं। वहाँ लोग दोनोंमें दीपक जला-जलाकर छोड़ते हैं। हजारों दीपक जलते हुए निकल जाते हैं। उनकी न गिनती याद है, न शक्ल-सूरत याद है। कितने मुर्दे निकल जाते हैं। मरी हुई गाय भी निकलती है। हम लोग नाममें आनन्द लेते रहते हैं। जिस प्रकार फुलझड़ियोंमें-से चिनगारियाँ निकली हैं उसी प्रकार जीवनमें सुख-दुःख आते हैं। फुलझड़ीकी चिनगारी बनी रहे यह सोचोगे तब दुःख हो जायेगा और बुद्धि डाँवाडोल हो जायेगी। धुँआ इधरसे न उड़े, उधरसे उड़े इतना सोचनेपर भी दुःख हो जायेगा। इसलिए अपनी बुद्धिको बिलकुल ठीक रखना चाहिए।

**वीतरागभयक्रोधः**—राग और क्रोध ये दोनों ही बुद्धिको डाँवाडोल करते हैं। रागमें एक दोष है, आवरण है, पर्दा है। रागमें अपने रागास्पदसे बुद्धि इतनी रँग जाती है कि हम उसके दोष नहीं देख पाते। रागमें पर्दा है, परन्तु वह पर्दा है दोषपर। द्वेषमें भी पर्दा है, परन्तु वह पर्दा है गुण पर। सामनेवाले दोषपर पर्दा डाल देता है राग। जब सामने पर्दा आगया तो बुद्धि वस्तुको ठीक-ठीक समझती नहीं। जब ठीक-ठीक नहीं समझती तो विपरीत हो जाती है। यह दुनियामें जो भाई-भतीजावाद चलता है वह डाँवाडोल बुद्धिका, राग-द्वेषसे दूषित बुद्धिका ही काम है। महाराष्ट्रमें एक रामायण है। उसमें यह प्रसंग है कि समर्थ राम-दासने एक राम-चरित्र लिखकर हनुमानजीको सुनाया। हनुमानजी सुनते-सुनते एक जगह टोक बैठे। रामदासजीने वर्णन किया

था कि सीताजी अशोक-वनमें जहाँ बैठी थीं, वहाँ उनके सामने एक सरोवर था और उसमें श्वेत कमल खिले हुए थे। हनुमानजीने बताया कि श्वेत कमल नहीं रक्त कमल थे। रामदासजीने स्वीकार नहीं किया और कहा निश्चितरूपसे श्वेत कमल थे। अब दोनों माँ जानकीके पास निर्णयके लिए गये। माताजीने कहा कि श्वेत कमल थे। हनुमानजीने कहा कि मैंने तो लाल कमल देखे थे। माता जानकीने उत्तर दिया कि 'उस समय तुम्हें राक्षसोंपर, निशाचरोंपर बड़ा भारी क्रोध आगया था। उनसे द्वेष हो गया था। इसलिए तुम्हारी आँख लाल होनेके कारण सफेद कमल लाल दीखने लगे।'

तो आप जानते ही हैं कि गुस्सेमें किससे क्या बोलना चाहिए–यह नहीं सूझता। क्रोधी मनुष्य अपना पाँव धमाधम पटकते हुए चलता है। जोरसे बोलता है। संस्कृत भाषामें बुद्धचर्या नामक एक पुस्तक है। उसमें तृष्णाचर्या, क्रोधचर्या, कामचर्या आदिका वर्णन है। जब मनुष्य विस्तर लेकर आवे और चारपाईपर पटक दे तो समझना कि वह कहींसे खीझकर आया है। वह इस प्रकार धम्मसे बैठे कि उसे चारपाई टूटनेका भी ख्याल न रहे तो समझना कि उसका मन दूसरी जगह है। प्रत्येक भाव अपनी-अपनी चर्या देता है, भावके अनुसार क्रिया होती है और इस प्रकार हमारा जीवन चलता रहा है।

अब 'वीतरागभयक्रोध:'के भयको लीजिये। हम जिस जगहपर डरते हैं वहाँसे भाग खड़े होते हैं। कोई भयंकर वस्तु सामने आनेपर हमारे मुँहसे 'भी भी भी' शब्द निकलता है। इसलिए संस्कृतमें 'भी' धातु है। जब मनमें भय आता है कि यह भूत है, प्रेत है, चोर है, तब हम चिल्लाने लगते हैं, भाग जाते हैं, डण्डा मार देते और फिर जब सोचते हैं कि यह तो हमारा दोस्त है

तव भय दूर हो जाता है। भय भी वुद्धिको विगाड़ देता है। हमारी वुद्धि रागसे, क्रोधसे, भयसे, विकृत न हो तब यह स्थित रहेगी, प्रामाणिक रहेगी, **स्थितधीर्मुनिरुच्यते।**

अब मौन या मित भाषणकी वात लें। यदि हम बोलनेमें सावधानी रखें तो हमारी वाणीका नियन्त्रण वुद्धिके नियन्त्रणमें भी सहायक होगा। हमने एक घरमें देखा, नौकरसे छलनी गिर पड़ी। उसमें कुछ सामान रखा हुआ था वह विखर गया। घरकी मालकिन ऐसी नाराज हुई कि चिल्लाने लगी। आवाजका पता ऐसे ही अवसर लगता है। लोग वैसे तो वहुत मीठा बोलते हैं, लेकिन जब किसीपर गुस्सा आता है, बच्चेपर या नौकरपर चीखते हैं तव मालूम पड़ता है कि आवाज कैसी है। मैंने दूसरे दिन उसी घरमें देखा मालकिनके होनेवाले जमाई आये और जब वे चाय बनाने लगे तब उनके हाथसे प्याला गिर गया। प्याला तो टूटा ही नीचेकी कालीन भी खराव हो गयी। किन्तु मालकिनने उनके ऊपर कोई नाराजगी जाहिर नहीं की, बल्कि यह देखने लगी कि कहीं जमाई जी जल तो नहीं गये। उनके कपड़े तो नहीं खराव हो गये। इस प्रकार एक ही आदमीके रागकी चर्या दूसरी हो गयी और तिरस्कारकी चर्या दूसरी हो गयी। अपनी वुद्धिको अच्छे ढंगसे रखना चाहिए। व्यवस्थित बुद्धि ही प्रतिष्ठित होती है।

अब देखो, एक है श्रेयके प्रति आसक्ति। यह श्रेयासक्ति क्या है?

**तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि।**

आप अपने भगवान् अथवा देवी-देवताओंकी पूजा करते हैं तो बहुत बढ़िया काम करते हैं। परन्तु जब कोई मुसलमान नमाज पढ़ता है तो क्या वह कोई घटिया काम करता है? अरे भाई,

वह भी अपने मजहबके अनुसार खुदाकी इबादत ही तो करता है। फिर आप अपनी पूजाको शुभ और उसकी पूजाको अशुभ क्यों मानते हैं? आप झाँझ, करताल और ढोलक बजाकर जोर-जोरसे संकीर्तन करते हैं लेकिन एक मुसलमान मस्जिदमें सबेरे अल्ला हो-अकबर पुकारता है तो आपको क्रोध क्यों आता है, आपकी बुद्धि क्यों बिगड़ती है? तो अच्छी बातोंमें भी इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि उससे हम दूसरेकी अच्छाईका आदर न करें!

**यः सर्वत्रानभिस्नेहः**—आपके द्वारा श्रेयस्कर कार्य सम्पन्न हों; परन्तु उनमें भी आपकी इतनी आसक्ति न हो कि आपका कर्म श्रेष्ठ है और दूसरेके हृदयमें बैठे हुए भगवान् कनिष्ठ हैं। दूसरेके हृदयमें बैठे हुए साक्षात् भगवान्का अनादर करके आप यदि अपने कर्मका आदर करते हैं तो वहाँ चेतनका अनादर होता है और जड़ कर्मका आदर होता है। इसलिए बुद्धिमें जड़ता नहीं आनी चाहिए। **तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् नाभिनन्दति न द्वेष्टि**—यह श्रीमद्भगवद्गीताका अथवा श्रीमती भगवती गीताका अथवा श्रीमता भगवता गीताका कहना है कि आप अपनी बुद्धिको किसी भी प्रकार भ्रष्ट मत होने दीजिये। इसको ठीक रास्तेपर व्यवस्थित हो प्रतिष्ठित रखिये। इसे स्नेह अथवा शुभाशुभके प्रसंगोंमें भी विषम मत होने दीजिये। समताका, कर्मकी समताका, कर्ताकी समताका, भावकी समताका जैसा वर्णन गीतामें है वैसा किसी दूसरे ग्रन्थमें है ही नहीं। **साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते**। बड़े-बड़े स्रष्टा, बड़े-बड़े आचार्य भी भगवान्से अपने सम्प्रदायकी ही सिफारिश करते हैं और दूसरे मजहबवालोंकी सिफारिश नहीं करते। परन्तु गीता कहती है—

> **'न द्वेष्टचकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।**
> **तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि।'**

कुशलमें आसक्ति नहीं और अकुशलसे द्वेष नहीं। शुभाशुभकी प्राप्तिमें न प्रसन्नता है, न द्वेष। ऐसी लोकोपकारी संस्था आपको कहाँ मिलेगी ?

अब आगे देखो। एक तो यह हुआ कि अपनेमें हीनताकी भावना न हो, दूसरी बात यह हुई कि राग-द्वेष न हो और तीसरी बात यह हुई कि अच्छाइयोंमें भी अन्धासक्ति नहीं होनी चाहिए। अब चौथी बात यह आयी कि थोड़ा विश्राम भी लेना चाहिए। आप अपनी-अपनी जीवनचर्यामें जागना और सोना दोनों रखते हैं। शरीरके आरामके लिए जागना भी आवश्यक है और सोना भी। वैसे आपका मन तो निरन्तर काम करता रहता है। मुझे एक डॉक्टरने बताया कि यह जो धड़कन है, वह मनुष्यके गर्भमें आनेके समयसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त चलती रहती है, कभी विश्राम नहीं लेती। हम ज्यादा खा लेते हैं तो बेचारीको पचानेमें ज्यादा परिश्रम करना पड़ता है। घी पचानेमें ज्यादा परिश्रम करना पड़ता है। वैसे जो खेतिहर हैं, श्रमिक हैं, शारीरिक श्रम करने-वाले हैं उनको तो सब पच जाता है। गरीब आदमी लकड़ी भी खा लेता है तो वह उसको पच जाती है—**काष्ठान्यपि सुजीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः।** पर, ज्यादा परिश्रम करनेसे—ज्यादा भोग करनेसे धड़कनकी गति निर्बल हो जाती है। इसलिए उसको भी, मनको भी विश्राम मिलना चाहिए। जान-बूझकर थोड़ी-थोड़ी देरके लिए मनको सुलाते रहना चाहिए। पचास वर्ष पहले जब मालवीयजी महाराजने अछूतोद्धारका आन्दोलन आरम्भ किया था उस समय मैंने नींदसे उठते ही एक लेख लिखा था। मेरा यह अनुभव है कि जब मैं एक नींद लेकर उठता हूँ तब कुछ लिखने-की स्थितिमें होता हूँ। श्रीदेवधरजी तो हमारे साथ बहुत रहे हैं। ये जानते हैं कि श्रीमद्भागवतकी टीका कैसे लिखी गयी ? बड़े-बड़े लेख कैसे लिखे गये ? जब हम सोकर उठते हैं तो विश्रामके

वाद जाग्रत बुद्धि विलकुल ठोक-ठीक सोचती है और उसका एक सिलसिला बन जाता है। भीतर जो संस्कार भरे हुए हैं वे एक क्रमसे निकलने लगते हैं और क्रमबद्ध हो जाते हैं। अतः विश्राम आवश्यक है। जीवनमें विश्राम चाहिए :

> यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
> इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ( २.५८ )

दिनभर आइसक्रीम चाटते रहना या जीभ चलाते रहना बुद्धि-विकासका साधन नहीं, समयपर भोजन ले लेना चाहिए। समयपर जिह्वाको आराम देना चाहिए, आँख तथा अन्य इन्द्रियोंको भी विश्राम देना चाहिए। विश्राममें-से ही श्रम करनेकी शक्तिका जागरण होता है। श्रमका मूल विश्राममें है। जब सोकर उठते हैं तो जागरणकी शक्ति बढ़ती है। इसलिए जान-बूझकर विश्राम लेना चाहिए। यदि हम लोग अभ्यास करें तो हम जो नींद लेते हैं वह समाधि हो सकती है। नींदमें और समाधिमें कोई फर्क नहीं; परन्तु अभ्यासपूर्वक बनायी हुई नींद ही समाधिका काम देती है। प्रकृतिसे लगी हुई समाधि निद्रा हो जाती है। उसमें जड़ताकी प्रधानता होती है और अभ्याससे बुलायी हुई नींद समाधि हो जाती है। जहाँ हमारा पौरुष निद्राका निर्माण कर सकता है वहाँ हम निद्रासे भी ऊपर उठकर समाधिस्थ हो सकते हैं। हमको बचपनमें किसी महात्माने एक मंत्र बताया था। वह मंत्र चार अक्षरका था और हिन्दीमें था—'हाथ खींचो'। उसका तात्पर्य है ऐसी जगह हाथ मत डालो, जहाँसे तुम अपने हाथको खींच नहीं सकते। हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन जहाँ काम कर रहा है वहाँ उसे हमेशाके लिए फँसने मत दो। आँखसे, मनसे वंचित मत होओ। दिलका स्वभाव है कि वह कभी लगता-हटता है। संसारकी किसी भी वस्तुमें, विषय-

में, भोगमें यदि आप अपने मनको निष्ठावान बना देंगे तो आपका मन उसीमें रम जायेगा, आपके हाथसे निकल जायेगा, आपकी बुद्धि भी वहीं चली जायेगी। इसलिए मन-बुद्धिको अपने वशमें रखिये, अपने भीतर लौटाइये। **यदा संहरते चायं**—यह अपनी बुद्धिको प्रतिष्ठित करनेका ही उपाय है। दिन-रात पराये घरमें रहोगे, रोज-रोज वहीं खाओगे तो घरजमाई बन जाओगे। बिहारीका दोहा है कि—

**घरेंहि जमाई लौं घट्यो खरो पूस दिन मान।**

जब अपना जमाई बनकर ससुरालमें रह जाता है तब उसका वह आदर नहीं होता। ससुरालवाले समझने लगते हैं कि ये अपने घरके ही तो हैं, पीछे खा लेंगे तो क्या होगा? आज दूसरे मेहमान आये हैं और थोड़े दिनके लिए आये हैं, इनका आदर अधिक होना चाहिए। यह संसारकी रीति है। अतः अशान्तिसे बचनेके लिए विश्राम आवश्यक है, अनिवार्य है।

अब इसके बाद आता है इन्द्रियोंपर विषयोंके संयोगका प्रसंग। हमें व्यवहार करते समय इस सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिए—

**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ( २.५९ )**

**यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।**
**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ( २.६० )**

**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।**
**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ( २.६१ )**

प्रज्ञा तभी प्रतिष्ठित होती है जब इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। आपकी आँख, आपकी नाक, आपकी जीभ, आपके हाथ, आपके पाँव आदि आपकी बुद्धिका आदेश मानते हैं कि नहीं? आपकी बुद्धिको

खड़ा करके रखते हैं कि नहीं ? हमारे इस शरीर-ग्राममें जो सेवक हैं वे हमारे आदेशका पालन करते हैं कि नहीं ? गाँवका अर्थ केवल ग्राम नहीं होता, शरीरका ग्राम भी होता है। हमारी अकल-की इज्जत करते हैं कि नहीं ? हमारी समझदारीका सम्मान करते हैं कि नहीं ?

**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।**

बुद्धिके लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रियोंका संयमन है। संयमन माने मारण नहीं होता। जैसे सवार घोड़ेकी बागडोर अपने हाथमें रखते हैं वैसे ही इन्द्रियोंकी लगाम हाथमें होनी चाहिए। **युक्त आसीत मत्परः** युक्त होकर बैठो। इसका अर्थ है कि जीवनमें एक प्रकारकी युक्तता होनी चाहिए। गीता इसे बहुत महत्त्व देती है।

**युक्ताहारविहारस्य**—भोजन भी युक्त करें, विहार भी युक्त करें—समयसे, मर्यादासे। गीताको युक्त होना बहुत प्रिय है। यहाँ तक कि दुःख सहनेमें भी मनुष्यको युक्त होना चाहिए। सहनका सामर्थ्य होना चाहिए—

**शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।**
**कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥** (५.२३)

युक्त होनेके लिए युक्ति कर लेनी चाहिए। जिसको युक्ति आती है वही युक्त होता है। 'युक्तिरस्यास्ति इति युक्तः।' तो युक्ति आनी चाहिए। आपको कभी क्रोध आये तो चुप हो जाइये, पाँच-दस मिनट मत बोलिये, वहाँ से हट जाइये, थोड़ा खाने-पीने लगिये, कोई दूसरी चर्चा छेड़ दीजिये। पानी या शर्बत लेकर पीजिये। जीभपर एक बूँद शहद डाल दीजिये। शीशेके सामने जाकर देखिये कि क्रोधमें आपका चेहरा कैसा लगता है ? मुस्कराते

समय आपने शीशा बहुत देखा है, क्रोध आनेपर भी देखिये। यह क्रोध-निवारणकी युक्ति है, इससे गुस्सा ठंडा हो जाता है। अतः मनुष्यको युक्त रहना चाहिए।

एक युक्ति और सुनाते हैं। आपको खानेमें कुछ-न-कुछ तो प्यारा लगता ही है। दूध, चाय या काफी कुछ-न-कुछ अच्छी लगती होगी। आप एक मर्यादा बना लीजिये कि जब हमको क्रोध आयेगा तो हम तीन दिनतक कोई भी प्रिय या स्वादिष्ट वस्तु नहीं ग्रहण करेंगे। आपकी यह मर्यादा जब क्रोध आयेगा तो आपके सामने आकर खड़ी हो जायगी। आपकी मीठी-मीठी चाय अथवा मीठा-मीठा दूध कहेगा कि तुम तीन दिनके लिए हमको छोड़ रहे हो? आपका मन कहेगा कि भाई, क्रोध भले ही छोड़ दो, चाय, दूध मत छोड़ो। तात्पर्य यह है कि आपको जो भी प्रिय लगता हो उसके बारेमें एक नियम बना लो। कहीं ऐसा न हो कि दूसरेको क्रोध आये और आप उसे भोजन छोड़नेकी सलाह दें और शीशा दिखाने लगें। फिर तो उसका क्रोध और भी बढ़ जायेगा और पता नहीं वह क्या कर बैठेगा?

तो अपने विकारोंको काबूमें रखनेके लिए थोड़ी-थोड़ी युक्ति करनी पड़ती है। भगवान्का नाम लेने लग जाओ, अपने ऊपर जुर्माना कर लो। क्या जुर्माना करो कि एक बार क्रोध आयेगा तो इतना दान करेंगे। आप लोग श्रीमन्त हैं। दो, चार, दस रुपयेका दान मत रखना। लाखोंकी संख्यामें रखना। फिर देखना कि तुम्हें क्रोधपर क्रोध आयेगा और तुम सोचोगे कि इतने परिश्रमसे कमाये हुए धनको केवल क्रोधके कारण दे देना पड़ेगा या हानि उठानी पड़े तो कौन उसे सहेगा? **युक्त आसीत मत्परः** युक्तियुक्त जीवन व्यतीत करना चाहिए और उसे भगवान्के साथ जोड़कर रखना चाहिए—**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**

( २.६१ ) । यह गीताका एक विशेष प्रसंग है और महात्मा गांधीने इसको वहुत महत्त्व दिया है। उनके प्रभावसे जो लोग पहले गीता नहीं पढ़ते थे वे रोज पाठ करने लगे। प्रार्थना करने लगे। यह जीवनके लिए बहुत उपयोगी है—**बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च** ( १८.५१ ) । यह साधना जिसका वर्णन अठारहवें अध्यायमें है, दूसरी है। वह ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए है। यहाँ जिसकी चर्चा की गयी है वह बुद्धिको प्रतिष्ठित करनेके लिए है। व्यवहारमें बुद्धिको प्रतिष्ठित किया जाता है। व्यवहारके लिए यह प्रसंग बड़ा उपयोगी है।

•

## प्रवचन–४

( १९-११-७४ )

जैसा कि पहले कहा गया, हमारी बुद्धि डावाँडोल न हो स्थिर हो, प्रतिष्ठित हो, निष्ठावती हो—इसके लिए भगवान्‌ने छह वातोंपर बल दिया। अपनेमें हीनताका भाव न हो, आत्मतुष्टि हो—**आत्मन्येव च संतुष्टः।** हम इसके बिना नहीं रह सकते, उसके बिना नहीं रह सकते। हमारा जीवन पराधीन है। हम दीन-हीन हैं। इस प्रकारकी कल्पना मनसे निकल जाये। यह पहली बात है। जीवनके प्रवाहमें प्रिय-अप्रिय आते-जाते रहते हैं। उनसे उद्विग्न नहीं होना और उनकी आकांक्षा भी नहीं करना—यह दूसरी बात है। तीसरी वात यह हुई कि जिसको हम अपने जीवनमें शुभ या अशुभ मानते हैं, उनमें हमारी आसक्ति इतनी प्रवल नहीं हो जानी चाहिए कि हम एक शुभके लिए दूसरे शुभका वलिदान करने लग जायें। जो श्रौत-साधन हैं वे भी दूसरोंको दुःख पहुँचाये बिना ही होने चाहिए। जो धर्म दूसरे धर्मको बाधा पहुँचाकर सम्पन्न होता है वह धर्म नहीं कुधर्म है। अविरोधी धर्म है, वही सच्चा धर्म है—

**धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्मतत्।**
**अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥**

( व० पर्व० १३१.११ )

चौथी बात यह बतायी कि अपने जीवनमें संयम होना चाहिए। जीवनमें जैसे निद्रा आवश्यक है वैसे ही विश्राम भी आवश्यक है।

हममें यह शक्ति होनी चाहिए कि हम जब चाहें तब अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर सकें। इससे बुद्धि अपने आप स्थिर हो जायेगी। पाँचवीं बात यह बतायी कि हमारी जो ऐन्द्रिक शक्तियाँ हैं वे व्यवहारमें भी विषयोंके पराधीन न हों—**युक्त आसीत मत्परः।** मनुष्य सावधान होकर रहे, विषय-भोगके पराधीन न हो जाय। इसके बाद यह प्रश्न उठाया कि क्या केवल विषय-त्यागसे ही मनुष्यकी बुद्धि स्थिर हो सकती है? इस सम्बन्धमें गीताका निर्णय है कि केवल त्यागसे बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती—

**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥**

(गी० २.५९)

त्यागसे केवल विषय अलग हो जायेंगे, इन्द्रियाँ अलग हो जायेंगी; परन्तु रागकी निवृत्ति नहीं होगी। एकादशीके दिन भोजन न करनेपर भी द्वादशीके दिन क्या-क्या पारण होना चाहिए—यह कल्पना होती रहती है। एक सज्जनने बारह महीनोंतक मौन रखा। फिर एक मास पूर्व यह कल्पना करने लगे कि जब मौन तोड़ेंगे तो सबसे पहले क्या बोलेंगे? अतः केवल त्याग बुद्धिको स्थिर रखनेके लिए पर्याप्त नहीं, उसके लिए परमात्माका साक्षात्कार आवश्यक है। रागकी निवृत्तिके लिए रागास्पदके अन्तरङ्ग तत्त्वका दर्शन होना चाहिए। रागास्पद बाहरी है जो मुझमें है वही रागास्पदमें है। वह एक है और वही सबमें है। उसका दर्शन हो जाय तो न तो राग या मुहब्बत हमारी बुद्धिको बिगाड़ सकती है और न द्वेष, नफरत या दुश्मनी हमारी बुद्धिको बिगाड़ सकती है।

हमारे गीतावक्ता भगवान्का कहना है कि बुद्धिको ठीक रखनेमें आठ प्रकारके विघ्न आते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गी० २.६२-६३)

एक तो अपेक्षा-बुद्धिसे विषयका चिन्तन। संस्कृत भाषामें विषय शब्दका अर्थ होता है 'विसिनोति'—जो हमें बाँध लेता है वह विषय है। षिञ् बन्धने धातुसे विषय शब्द बनता है। आँख हमारे शरीरमें रहते हुए भी किसी दूसरे रूपके साथ बँध जाती है। मन हमारे भीतर रहता हुआ भी किसीके प्रति राग अथवा द्वेषसे बँध जाता है। कैसे बँधता है? बताया कि—**ध्यायतो विषयान्**। जब हम प्रेम या द्वेषसे किसी वस्तुका ध्यान करते हैं। द्वेष तब होता है जब हमारे मनमें किसीके लिए जलन होने लगे। द्वेष माने ज्वलनाकार वृत्ति। किसीकी याद आते ही, नाम लेते ही, शकल देखते ही दिलमें आग लग जाये उसे द्वेष कहते हैं। द्वेष दूसरेका बादमें, पहले अपना घर जलाता है। संस्कृत भाषामें इसका नाम है आश्रयाश—आश्रयम् अश्नाति। आग जिस लकड़ीमें लगती है पहले उसको जलाती है। बादमें उसकी चिनगारी दूसरेके घरमें जाती है। इसलिए उसका नाम होता है द्वेष। हम रंग दूसरेके ऊपर डालना चाहते हैं, परन्तु पहले अपना ही दिल रंग जाता है। इसका नाम है राग—रञ्जनात् रागः। जैनधर्मकी एक पुस्तकमें बढ़िया उदाहरण दिया गया है। एक आदमीके मनमें क्रोध आया। उसने एक जलता हुआ लोहेका टुकड़ा उठा लिया और अपने दुश्मनपर फेंका। दुश्मन तो बच गया उठानेवालेका हाथ जल गया।

जब हम किसीसे दुश्मनी करते हैं तो दुश्मन जले या न जले, हमारा दिल जरूर जल जाता है। जब हम जानबूझकर संसारके

विषयोंका चिन्तन करते हैं तब आसक्ति होती है। आसक्ति होनेपर यह कामना होती है कि वह और बढ़े। कामनामें बाधा पड़नेपर क्रोध होता है। क्रोधसे कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान उलटा हो जाता है। फिर हमने जो कुछ पढ़ा-लिखा है, सीखा-सुना है उसे भूल जाते हैं। हमारा स्मृति-विभ्रम हो जाता है और स्मृति-विभ्रमसे बुद्धिनाश हो जाता है। गीताकारका कहना है कि यदि बुद्धिका नाश हो गया तो आपके जीवनका नाश हो गया—**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**। इसलिए बुद्धिको हर समय सावधान रहना चाहिए। ऐसी कोई भी वस्तु जिससे हमारी बुद्धि अपने स्थानसे विचलित हो जाये, हमारे जीवनमें नहीं आनी चाहिए। मैंने पहले कहा था कि सृष्टिमें ऐसा कोई धर्मग्रन्थ नहीं जिसमें बुद्धिको इतना आदर दिया गया हो—

**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव। ( १८.५७ )**

हमारा मन भगवान्‌में कैसे लगेगा? बुद्धियोगसे। भगवान् प्रसन्न होंगे तो हमें क्या देंगे? बुद्धियोग देंगे **ददामि बुद्धियोगं तम्**। अतः बुद्धियोगसे भगवान् मिलते हैं और भगवान् मिलनेपर बुद्धि-योग देते हैं। लोगोंका ध्यान इस ओर कम जाता है। भगवान् जहाँ **बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** कहते हैं वहाँ 'न प्रणश्यति' भी कहते हैं—

**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।**

यदि मनुष्यकी दृष्टि भगवान्‌पर रहे और वह अनुभव करे कि भगवान् ही सर्वात्मा हैं, सर्व हैं, उनके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं तो उसका कभी नाश नहीं हो सकता—**न मद्भक्तः प्रणश्यति**।

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ( ६.३० )**

भगवान् हमारी आँखोंके सामने बने रहें और भगवान्‌को आँखोंके सामने हम बने रहें तो नाशका कोई प्रसंग ही नहीं उपस्थित हो सकता। परन्तु यदि बुद्धिका ही नाश हो गया—**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** तो मनुष्यका नाश अवश्यम्भावी है। इससे सामधान कैसे हो जाये यह प्रश्न है।

**इन्द्रियाणां हि चरितां यन्मनोऽनुविधीयते।**
**तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥** (२.६७)

इसमें 'चरतां'का अर्थ चलना भी है और चरना भी है। जैसे पशु घास चरते चलते हैं वैसे ही इन्द्रियाँ विषय-रूप घासको चरती हुई चलती हैं। यदि इन्द्रियोंके पीछे-पीछे हमारा मन और मनके पीछे-पीछे हमारी प्रज्ञा चली जाये तो यह अवस्था ठीक नहीं। इसे इस प्रकार समझो कि हम रास्तेमें चल रहे हैं। हमने देखा कि एक आदमी बहुत बढ़िया वस्त्र धारण किये हुए जा रहा है अथवा सामनेवाली स्त्रीकी साड़ी बहुत सुन्दर है। यहाँ हमारी आँखने बताया कि यह सुन्दर है। मनने कहा कि यह हमारे पास भी होनी चाहिए। बुद्धिने कहा कि जिस दुकानपर कपड़े मिलते हैं वहाँ जाकर खरीद लो। इस प्रकार आगे-आगे आँख चली, पीछे-पीछे मन चला और उसके पीछे लग गयी बुद्धि। यहाँ बुद्धिका अनादर हो गया। अब पहले आपकी बुद्धि चलेगी—घरमें यह आवे, वह आवे, यह उचित है, यह आवश्यक है, हितकारी है। इस तरह पहले बुद्धि किसी पदार्थका विचार करेगी, फिर उसको प्राप्त करनेका संकल्प होगा और तब उस वस्तुको जाकर आँखसे देखेंगे। अर्थात् पहले बुद्धि, बुद्धिके पीछे मन, मनके पीछे इन्द्रिय। अगर आपके जीवनकी गति ऐसी है तब आप आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करेंगे, उनसे सम्पर्क करेंगे और उनके लिए कर्म करेंगे। यदि आप इन्द्रियोंके पीछे-पीछे चलने लगे—वे जहाँ ले जायँ;

जाने लगेंगे तो पता नहीं वे आपको किस गर्तमें डाल देंगी। अतः उपनिषद्का कहना है कि आप कामके वशमें न हों, रामके वशमें हों—**कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र** ( मु० ३.२.२ )।

मैं आपके सामने गीताको वैसे ही प्रस्तुत कर रहा हूँ जैसे सूची-पत्र पढ़ा जाता है। आप समूची गीतापर एक दृष्टि डालिये। यह भगवान्की वाणी है। भगवद्-वाणीकी एक पहचान यह है कि वह तमोगुणी, रजोगुणी, सत्त्वगुणी और निर्गुणी सबका हित करती है। भगवान् जो कुछ भी बोलते हैं सबके हितके लिए बोलते हैं। भगवान्की प्रत्येक वाणीमें हमारे जीवनके लिए आधारभूत सत्ता और आत्मधारणानुकूल व्यापार विद्यमान होता है। हम भी ठीक रहें, हमारी जानकारी भी ठीक रहे, और हमको पराधीनताके बिना आनन्द भी मिलता रहे। इन तीनों बातोंको ध्यानमें रखकर सबके लिए जो वचन होता है, वह भगवान्का वचन होता है।

भगवान् श्रीकृष्णने हमारे जीवनके लिए जो रहनी बतायी है इसपर आप ध्यान दें—

**रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।**
**आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ (२.६४)**
**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।**
**प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ (२.६५)**
**नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।**
**न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ (२.६६)**

भगवान् कहते हैं कि हमें अपने व्यवहारमें तीन बातोंपर ध्यान रखना चाहिए। एक तो हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन और हमारा शरीर दूसरेकी आज्ञा भले ही न माने, अपनी आज्ञा अवश्य

माने। कभी-कभी तो हम जो नहीं चाहते, वह हमारी जीभ बोल देती है और हमारा हाथ कर बैठता है। तीसरे अध्यायमें तो इसका स्वतन्त्र प्रसंग ही है। हमारे न चाहनेपर भी कुछ हो जाता है। देखना यह है कि हम विधेयात्मा हैं कि नहीं। एक होता है अकृतात्मा, जिसका शरीर, इन्द्रिय, मन कुछ भी वशमें नहीं। दूसरा होता है कृतात्मा—जिसके वशमें सब होते हैं। और तीसरा होता है विधेयात्मा—जो सोच-विचारकर आज्ञा देता है। भगवान् श्रीकृष्ण बोलनेकी विद्या भी बताते हैं और यह भी सिखाते हैं कि कब, क्या और कैसे बोलना चाहिए।

आप भोजन करें परन्तु आपकी जीभका राग या द्वेष भोजनसे न हो जाय। इन्द्रियाँ अपने वशमें हों। उन्हें हम जब चाहें तब रोक सकें--यह सामर्थ्य हमारा बना रहना चाहिए। वह व्यक्ति कितना पराधीन हो गया, जो अपने पावोंको कहीं जानेसे, हाथको कोई काम करनेसे और जीभको कुछ बोलनेसे रोक नहीं सकता। यदि आप मोटर चलाते हैं और स्टीयरिंग आपके वशमें न हो, आप मोटरको रोक न सकते हों, मोड़ न सकते हों, रफ्तारको कम-बेश न कर सकते हों तो यह खतरेका ही काम है। इसी प्रकार हमारा शरीर एक रथ है और इसमें जो इन्द्रियाँ हैं वे उपकरण हैं। इन्द्रिय शब्दका अर्थ है—इन्द्रसृष्ट, इन्द्रदत्त, इद्र-जुष्ट। इन्द्रने जिसको बनाया वह इन्द्रिय है। इन्द्र अर्थात् कर्मके देवता। जिस प्रकार हमारे कर्मके अनुसार हमें भोग मिलते हैं उसी प्रकार भावके अनुसार कर्म करनेके लिए औजार मिलते हैं। पशु-पक्षियोंके हाथ नहीं होते। उनको हाथके कामकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। जब उन्हें होम आदि कर्म करने नहीं तब हाथ किसलिए ? हम लोग मुखमें जो भोजन करते हैं वह भी होम ही होता है। तो पक्षियोंको आकाशमें उड़ते समय, सन्तुलन बनानेके लिए चार पाँवकी जरूरत नहीं, उनका काम

दो पाँवोंसे ही चल जाता है। जहाँ जैसी आवश्यकता होती है वहाँ भाव वैसा ही रूप धारण कर लेता है। हमें हमारे कर्मके अनुसार कर्म करनेके लिए इन्द्रिय प्राप्त होती हैं। अथवा भोगके अनुसार भोग भोगनेके लिए इन्द्रियोंकी प्राप्ति होती है। इसलिए इनको इन्द्रिय बोलते हैं। इन्द्रियाँ हमारे हाथमें होनी चाहिए, हमें इनके हाथमें नहीं होना चाहिए। एक मालिक थे, वे पागलपनकी बात करते थे। जब अपने नौकरके सामने कोई पागलपनकी बात कर देते और बादमें होश आता तो उससे हाथ जोड़कर अनुरोध करते कि किसीसे कहना मत। फिर उसे कुछ इनाम भी दे देते। नौकर इनाम भी ले लेता और दूसरोंसे कह भी देता। जो इन्द्रियाँ हैं वे हमारी नौकर हैं। हमारे काम करनेके औजार हैं। इनको हमारे वशमें होना चाहिए **आत्मवश्यैः** और **रागद्वेषवियुक्तैः**। बाहरके किसी पदार्थसे राग-द्वेष न हो, इन्द्रियाँ हमारे अधीन हों और हम स्वयं अपने अनुशासनके अन्तर्गत काम करें। इस तरहसे यदि हम जीवन व्यतीत करेंगे तो हमें एक प्रसादकी प्राप्ति होगी। प्रसादका तात्पर्य निर्मलता है—**प्रसादस्तु प्रसन्नता**। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के प्राकट्यके समय दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं अर्थात् निर्मल हो गयीं। तात्पर्य यह कि दिशाओंमें तूफान नहीं, गर्दा नहीं, धूल नहीं, वे स्वच्छ हो गयीं—**दिशः प्रसेदुः** ( १०.३.२ )। जब हम कहते हैं कि सरोवर प्रसन्न है तो इसका अर्थ यह होता है कि उसमें न गन्दापन है और न तूफान है। इसी प्रकार हमारा हृदय प्रसन्न होना चाहिए। प्रसन्नता तब मिलती है जब हम इन्द्रियोंके पराधीन नहीं होते। किसीसे राग-द्वेष करनेमें संलग्न नहीं होते और स्वयंके अनुशासनके अनुसार चलते हैं। ये तीन बातें जीवनमें हों तो हमारा अन्तःकरण प्रसन्न होगा।

> **प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।**
> **प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥** ( २.६५ )

जब आपका मन निर्मल होगा, तो बात घूम-फिरकर वहीं पहुँच जायेगी कि आपकी बुद्धि प्रतिष्ठित है या नहीं, परिनिष्ठित है या नहीं, आपकी बुद्धिपर लोग विश्वास करें या नहीं ? जब आपकी बुद्धि बदलती रहेगी, आज कुछ और कल कुछ, तब लोग आपकी सलाह कैसे मानेंगे ? यदि आपको स्वयं भी अपनी बुद्धिपर विश्वास नहीं होगा तो आप अपने जीवनमें कोई योजना कैसे बना सकेंगे ? इसलिए बार-बार इस बातपर ध्यान देना चाहिए कि बुद्धिका प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। बुद्धि प्रतिष्ठित तभी होती है जब आपका ज्ञान निर्मल हो, प्रसन्न हो, उसमें किसी प्रकारका मैल न हो।

एक साधारण प्रसादकी बात भी आपको सुनाता हूँ। हम फल-फूल लेकर भगवान् रामचन्द्रके मन्दिरमें गये और उनके सामने रखकर खड़े हो गये। हमारे मनमें यह विचार हुआ कि यदि इसको पुजारीने हमें दे दिया और हमने ले लिया तो यह प्रसाद कैसे हो गया ? तुरन्त भीतरसे आवाज आयी कि तुमने जब भगवान्‌के सामने फल-फूल रख दिये और अपना 'मैं' पना भी छोड़ दिया तो संशय कैसा ? जब कोई वस्तु महत्त्वशून्य होती है तब उसका नाम प्रसाद हो जाता है। ममता ही अपना हक जमाकर किसी वस्तुको प्रसादसे पृथक् करती है और ममत्व छूटते ही वह वस्तु भगवान् हो जाती है। जब हम किसी चीजका त्याग करते हैं तब केवल अपनी ममता हटाते हैं। जब दान करते हैं तब अपनी ममता हटाकर दूसरेकी ममता बैठाते हैं। जब हम किसी वस्तुको भगवान्‌के प्रति अर्पित करते हैं तब अपनी इस भूलका परिमार्जन करते हैं कि हमने उसे अपना समझ रखा था। यह अन्तर है समर्पण, दान और त्यागमें। तो प्रसाद तभी प्राप्त होगा जब हमारे ध्यानमें यह बात आजायेगी कि सभी पदार्थ भगवान्‌के हैं : **प्रसादमधिगच्छति** और फिर सारे दुःख दूर

हो जायेंगे। वुद्धि प्रतिष्ठित हो जायेगी। वास्तवमें इस संसारके भोगोंके पीछे भाग-दौड़ करनेकी कोई बात नहीं। इसलिए भाई, ध्यानसे देखो। जिसमें संसारी लोग संलग्न हैं वह एक दूसरी वस्तु है। तत्त्वज्ञानी उसमें नहीं लगते, और जहाँ तत्त्वज्ञानी परिनिष्ठित हैं उसे संसारी लोग नहीं जानते। योगवासिष्ठमें एक श्लोक है :

काकोलूक निशेवायं संसारोऽध्यात्मवेदिनः।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (२.६९)

संसारका स्वरूप अज्ञानीके लिए एक और ज्ञानीके लिए दूसरा है। देखते हैं दोनों संसारको, किन्तु एक उसे सच मानता है, दूसरा असत् समझता है। जैसे सिनेमाके पर्देपर खेल हो रहा है। उसे बच्चा भी देख रहा है और समझदार भी देख रहा है। पर बच्चा उसको सच समझकर जब पर्देपर आग लगती है तब रोने लगता है और कोई डाकू दिखाई देता है तो डर जाता है। किन्तु समझदार उसको देखकर आनन्द लेता है। सिनेमाका पर्दा एक, दृश्य एक, परन्तु बच्चा जहाँ डरता है वहाँ समझदार आनन्दित होता है। यही भेद है बुद्धिका। बुद्धिकी इतनी महिमा है कि जहाँ संसार डरता है, वहाँ आत्मज्ञानी निर्भय होता है और जहाँ आत्मज्ञानी निर्भय होता है वहाँ संसारको उसका पता ही नहीं। मूल बात इसमें-से यह निकलती है कि हम संसारके पीछे दौड़ें नहीं, अपनी जगहपर बैठ जायें। अपनी स्थिति, अपनी प्रतिष्ठाका परित्याग न करें। अपने केन्द्रबिन्दुपर अडिग हो जायें।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
(२.७०)

एक होता है शान्तिका आनन्द और दूसरा होता है विषय-भोगका आनन्द। विषय-भोगका आनन्द हर्षोल्लासका आनन्द है, उसको विषयानन्द बोलते हैं और परमात्माका जो आनन्द है वह शान्त्यानन्द है—शान्तिमें आनन्द। तो जिसको शान्तिमें आनन्द लेनेका अभ्यास हो जाता है, उसे हर्षोल्लासके आनन्दके लिए भाग-दौड़ नहीं करनी पड़ती।

**समुद्रमाप**—आपः सब समुद्र हैं। जिसके पास मुद्रा हो उसे समुद्र कहते हैं। मुद्रा माने द्रव्य, जो लक्ष्मीका प्रतिनिधि है। जिससे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है अथवा लक्ष्मी जिसकी बेटी है उसका नाम समुद्र है। जिसमें समुद्रेक हो वह समुद्र है; जिसमें समय-समयपर ज्वार आता है, उसको भी समुद्र बोलते हैं। समुद्र मुक्तायुक्त होता है। वह कभी-कभी उद्दप्त भी होता है। उसमें उच्छलन भी होता है। तरंगायित भी होता है। इसलिए भी उसको समुद्र बोलते हैं। उसमें दो मुद्राएँ हैं, एक शान्त मुद्रा दूसरी विक्षिप्त मुद्रा। वह कभी विक्षिप्त हो जाता है, कभी शान्त हो जाता है। समुद्रमें सब-सब नदियाँ स्वयं जाकर मिलती हैं। वह यह नहीं कहता कि : 'एहि गङ्गे, एहि ब्रह्मह्रद, एहि तुङ्गे' मेरे पास आओ। वह कृष्णा, रेवा, विपाशा किसी भी नदीको नहीं बुलाता। वह नदियोंके जलसे, वर्षाके जलसे सदा-सर्वदा भरता रहनेपर भी अपनी प्रतिष्ठाको नहीं छोड़ता—**आपूर्यमाणमचल-प्रतिष्ठं**। आपके पास बहुत सारी सम्पत्ति आजाय और आप उसको अपनी समझकर मर्यादा छोड़ दें तो यह जीवनके लिए कुछ अच्छा लक्षण नहीं होगा। एक दिन मैं गंगा-किनारे बैठा था। एक बालक गंगाजीकी पूजा करने आया। उसके साथ उसका नौकर चाँदीके थालमें चन्दन, अक्षत आदि पूजाकी सामग्री लेकर आया और बालकसे बोला—बाबू, गंगाजीको यह चन्दन चढ़ा दो, अक्षत चढ़ा दो, फूल चढ़ा दो, नैवेद्य चढ़ा दो। बालकने पूरी

सामग्रीके साथ चांदीकी वह थाली गंगाजीमें फेंक दी। नौकर कहने लगा बाबू, यह क्या किया तुमने? बालक बोला—चुप रह हम ऐसी दस थालियाँ मँगाकर तुमको दे देंगे।' यह प्रतिष्ठा टूट गयी और अहंभावका प्राकट्य हो गया—**हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्मम् अतिक्रामति**—वेद भगवान्‌का कहना है कि संसारके विषयों-को पाकर जिसको बहुत हर्ष होता है उसे दर्प हो जाता है। दर्पसे ही दर्पण बनता है। धातु वही है। शीशेके सामने चाहे तुम मूँछ ऐंठ लो या और कुछ कर लो। पहले मूँछें होती थीं। अब वह गायब हो गयीं। शीशेमें अपने चेहरेकी चिकनाई देखते ही हैं। यदि वह दिखती है तब उससे दर्प होता है—**दृप्यति अनेन इति दर्पणः**—जिसको देखनेसे मनुष्यके मनमें दर्पका भाव आये उसका नाम दर्पण होता है। जब मनुष्यके मनमें दर्प आजाता है तब वह अपनी मर्यादाका, धर्मका उल्लंघन करता है—**दृप्तो धर्मम् अति-क्रामति**। भाई बाहरसे चाहे जितना आये आने दो, किन्तु अपनी प्रतिष्ठा मत छोड़ो। बल्कि जो कुछ भी आये उसे आत्मसात् कर लो। यह जीवनकी एक शैली है।

**तद्वत्कामा यं प्रतिशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।**
(२.७०)

जीवनमें भोगोंको आने दो, विसंगतियोंको आने दो, संसारको आने दो, परन्तु तुम अपनी जगह अविचल बने रहो। अपनी स्थितिसे विचलित मत होओ। अपना मन, अपनी बुद्धि मत बिगाड़ो। ऐसा होनेसे तुम्हें शान्ति मिलेगी। यदि तुम विषयोंके पीछे दौड़ोगे तो क्या होगा? बहुत बढ़िया उदाहरण है। जैसे कोई सूर्यकी ओर पीठ करके खड़ा हो तो उसे क्या दिखेगा? उसकी अपनी परछाईं दीखेगी। उस परछाईंको यदि वह हृदयसे लगाना चाहे, उसका आलिंगन करना चाहे, उसको पकड़नेके

लिए दौड़े तो जितना ही दौड़ेगा उतनी ही परछाईं दूर होती जायेगी। किन्तु वही व्यक्ति यदि सूर्यकी ओर मुँह करके खड़ा हो जाये और उधर ही चले तो परछाईं उसके पीछे-पीछे चलेगी। जो भोगोंकी कामनासे इधर-उधर दौड़ता-फिरता है, उसको शान्ति नहीं मिलती। शान्ति तो उसको मिलती है जो अपनी जगहपर अडिग खड़ा रहता है। भगवान् श्रीकृष्णने शान्ति-प्राप्तिके चार उपाय बताये हैं—

**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (२.७१)**

**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।**
**स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (२.७२)**

गीतामें यह स्थितप्रज्ञका प्रकरण है और बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो कर्म करते हुए सिद्ध होते हैं उनकी पहचान होती है स्थित-प्रज्ञता। जो भक्ति करते हुए सिद्ध होते हैं उनकी पहचान बारहवें अध्यायमें वर्णित है—

**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। (१२.१३)**

जो विवेकसे सिद्ध होते हैं, पूर्णताको प्राप्त होते हैं उनकी पहचानका वर्णन चौदहवें अध्यायके गुणातीत प्रसंगमें है। गीतामें कर्म-प्रधान, भक्ति-प्रधान और गुणातीत-प्रधान सिद्धोंका वर्णन तो है किन्तु भभूत या कुमकुम बरसानेवाले कलियुगी सिद्धोंका वर्णन नहीं। ये सब तो स्वयंभू सिद्ध हैं, जादूगरीके सिद्ध हैं, मानसिक शक्तिके सिद्ध हैं, यक्षिणी, भूत, प्रेत, पिशाच आदिके सिद्ध हैं। परमेश्वरसे सिद्धियोंका कोई सम्बन्ध नहीं। इन सिद्धियोंसे मन हटाये बिना कोई परमेश्वरकी ओर जा ही नहीं सकता।

श्रीकृष्णने शान्ति-प्राप्तिके लिए जो चार बातें बतायीं उनपर ध्यान दीजिये। जिस वस्तुका आपको अभाव मालूम पड़ता है,

उसकी कामनासे व्याकुल होकर दौड़िये मत। आपको उसका अभाव जो खटक रहा है उस खटकको ही छोड़ दीजिये। बचपनमें जब मेरे बाबा कहते थे कि यह पेड़ा तुमको नहीं दूँगा तो मैं कहता कि जाओ मुझे पेड़ा चाहिए ही नहीं। मैं आँख बन्द करके बैठ जाता, तब बाबा बुलाते कि अच्छा लो। यद्यपि यह बचपनकी मस्तीकी बात है तथापि सिद्धान्ततः ठीक है। आपके हृदयमें अप्राप्त वस्तुके लिए जो व्याकुलता है उसको आप अपने भीतर स्थान न दें और स्वभावतः जो वस्तु आजाये उसके प्रति आसक्त न हों। आप नोटको, गिन्नीको और हीरोंको भी पहचानते हैं। पहचानते ही नहीं, उनको अपना समझते हैं और कहते हैं कि ये मेरे हैं। इनपर हमारा हक है। परन्तु वे ऐसे बेवफा हैं कि आपको बिलकुल नहीं पहचानते और न आपके काबूमें रह पाते हैं। वे आपके हाथसे निकलकर दूसरे हाथमें चले जाते हैं। वे सोचते हैं कि हमको मेरा कहनेवाला और हमारे प्रति इतना ममत्व दिखानेवाला यह महापुरुष कौन है? अतः उनसे हमलोगोंकी एकांगी प्रीति है। हम कहते हैं तुम हमारे ही घरमें रहो। हमको छोड़कर कहीं मत जाओ। परन्तु वे हमारी नहीं सुनते। एक देहाती कहावत है, जिससे आपको थोड़ी हँसी आजायेगी। एक गाँवमें एक ( बूढ़ा ) कंजूस आदमी था। उसने एक चाँदीका रुपया बड़े प्रेमसे रख छोड़ा था। एक दिन बहुत आवश्यकता पड़नेपर वह उस रुपयेको हाथमें लेकर निकला और सामान खरीदने बाजार गया। गरमीके दिन थे। उसके हाथमें पसीना आगया। उसने देखा और बोला—ओहो तुम रोते हो। तुम्हें मुझसे इतना प्रेम है कि मेरे हाथसे जानेमें तुमको रोना आता है! अच्छा, लो—**मैं मर जैहों पै तोहें न भजैहों, तोहराके देखि देखि जियरा बुझैहों।** हमारी जो धनासक्ति है वह ऐसी ही है। बचपनमें हम दो आने पैसेके लिए रो चुके हैं। मेला देखनेके लिए पैसा माँगनेपर

उत्तर मिला कि तुम्हारे हाथमें नहीं देंगे। फिर दो रुपये आये, दो सौ आये, दो हजार आये फिर दो लाख आये। रुपये तो बढ़ते गये परन्तु हमारा बचकाना रोना जारी रहा। जो हमको पहचानता तक नहीं उसके प्रति हमारा इतना प्रेम है।

हमारे पास वस्तु आती है, जाती है। हमारा घर उसका एक पड़ाव है। वह हमारी दुकानमें-से होकर निकल जाता है और फिर उस दुकानको पहचानता तक नहीं—**पुमांश्चरति निःस्पृहः।** आप भी उसकी तरह निःस्पृह हो जाओ और वह आये अथवा जाये, उसके लिए हीनताका अनुभव करके दुःखी मत होओ। यदि आयी हुई वस्तु ठहर जाये तो उसे अपनी मत समझो। न ठहरे तो उसके लिए व्याकुल मत हो जाओ। वह हमेशा हमारे पास बनी रहे, यह स्पृहा मत करो, क्योंकि—**सम्पति सब रघुपति कै आही।** इस संसारमें चल और अचल जितनी भी सम्पत्ति है सब परमेश्वरकी है। गीताका यही सिद्धान्त है। जब हम उसका पन्द्रहवाँ अध्याय पढ़ते हैं तब बोध होता है कि क्षर और अक्षर दोनों ही पुरुषोत्तमके हैं। वास्तवमें इनके उपभोगका अधिकार असुरों अथवा असज्जनोंको नहीं, ये पुरुषोत्तम-तन्त्र पदार्थ हैं। इन्हें उत्तम पुरुषके हाथमें रहना चाहिए और उन्हींके द्वारा इनका उत्पादन, वितरण, विनिमय होना चाहिए। यदि हम अपनेको निर्मम मानें और कहें कि हम किसी वस्तुको महत्व नहीं देते, उसे जब चाहें उठाकर फेंक सकते हैं तो यह भी अहंकारकी बात है। हमारे एक मित्र थे। कभी-कभी कहा करते थे कि हमको डबल एम० ए०का प्रमाण-पत्र मिला था किन्तु हमने उसे गंगाजीमें फेंक दिया। उन्हें अपना प्रमाण-पत्र गंगाजीमें फेंकनेका अहंकार हो गया था। वह प्रमाण-पत्र उनके पास किसी आलमारी या सन्दूकमें पड़ा रहता तो कोई दोष नहीं था। परन्तु उसे फाड़कर गंगाजीमें फेंकनेका अहंकार उनके सिरपर ऐसा

सवार हुआ कि जब एक दिन उनको यह सुननेको मिला कि तुम्हारे अन्दर एम० ए० होनेकी कोई योग्यता नहीं, तुमको झूठ-मूठ प्रमाण-पत्र मिल गया होगा, तब वे तिलमिला उठे। फिर श्री लक्ष्मण नारायणजी गर्देने उनको बहुत समझाया और कहा कि आपने अपना प्रमाण-पत्र भले ही फाड़कर फेंक दिया हो, किन्तु उसका अहंकार आपके अन्दर बना हुआ है। तब वे शान्त हुए।

वास्तवमें अहंकार अवश्य छूटना चाहिए। अप्राप्तके प्रति कामना, प्राप्तके प्रति स्पृहा, विद्यमानके प्रति ममता ओर ममताके त्यागका अहंकार—इन चारों बातोंसे जो मुक्त हो जाता है उसको शान्तिकी प्राप्ति होती है—

**स शान्तिमधिगच्छति।**

**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।**
**स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (२.७२)**

इस श्लोकमें ऐसी कोई भी बात नहीं, जिसको हम और आप न कर सकते हों। क्योंकि अपना आत्मा अपने सहज स्वभावसे ही परमात्माका स्वरूप है। अच्छा, देखो आपके मुँहके भीतर जो पोल है—आकाश है और बाहर जो पोल है—आकाश है—वे क्या दो हैं? आपकी चहारदीवारीके भीतरकी भूमि और बाहर-की भूमिमें क्या कोई अन्तर है? हम लोग जो साँस लेते हैं वह नाकके भीतर जानेपर हमारी है तो बाहर निकलनेपर किसकी है? वह बाहर जिसकी है उसीकी भीतर जानेपर भी है। साँस एक ही है। इसी प्रकार यह जो चेतन तत्त्व है वह चाहे आपके शरीरमें बल्बकी तरह जगमग-जगमग जल रहा हो, पंखे की तरह घूम रहा हो, हीटरकी तरह गर्म हो रहा हो, रेफ्रीजरेटरकी तरह ठण्डा हो रहा हो, मोटरकी तरह चल रहा हो, परन्तु चीज एक

ही है। उसी एक पदार्थके कारण ही इतनी सारी प्रक्रियाएँ हो रही हैं। वास्तवमें जब आप दोष-विनिर्मुक्त होकर—कामना, स्पृहा, ममता, अहंकार–इन चारोंसे छूटकर बैठते हैं तब ब्राह्मी स्थितिमें होते हैं। वह आपकी कोई परिच्छिन्न स्थिति नहीं, बल्कि स्वयं भगवान्‌के शब्दोंमें—**एषा ब्राह्मी स्थितिः** है।

लोग हमारे पास शिकायत करते रहते हैं कि हम ध्यानमें बैठते हैं तो ध्यान नहीं लगता। इसका कारण क्या है? एक दिन मैंने अपना जूता सड़ककी तरफ निकाल दिया और किनारे बैठकर ध्यान करने लगा। जब-जब आँख खुले तब-तब यह देख लें कि जूता है कि नहीं। तो जूता अथवा उससे भी बड़ी-बड़ी वस्तुओंको बाहर रखकर ध्यानमें बैठनेपर हमारा मन यह झाँकने जायेगा ही कि हमारी सब चीजें ठीक-ठीक अपनी जगहपर हैं या नहीं। हमारे ध्यानमें जो चंचलता है इसका कारण बाहरकी वस्तुएँ हैं। एकबार आप यह अनुभव करें कि सम्पूर्ण आकाशमें आपके भगवान् ही भगवान् और आप ही आप व्याप्त हैं—भरपूर हैं। गीता भगवान् तथा आपमें कोई अन्तर नहीं बताती। आप ध्यानसे देखिये।

**सर्वभूतस्थमात्मानम्**—हमारा मैं सबमें है।

**सर्वभूतानि चात्मनि**—सब मुझमें हैं।

**ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।** ( ६.२९ )

ऐसी सच्ची दृष्टि जिसे प्राप्त हो गयी है, उसको ऐसा दिखता है कि मुझमें सब हैं और सबमें मैं हूँ।

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।** ( ६.३० )

मुझमें सब, सबमें मैं, मुझमें-सबमें परमात्मा और परमात्मामें मैं तथा सब, जो पहचान मेरी वही पहचान परमात्माकी। इसलिए—

**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।**
**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ( ६.३१ )**

गीताका कहना है कि जिसको मेरी और परमात्माकी एकता ध्यानमें आजाती है वह योगी है।

**यो मां पश्यति सर्वत्र**—यह तत् है।

**सर्वभूतेषु चात्मानं**—यह त्वम् है।

**भजत्येकत्वमास्थितः**—यह असि है।

इस प्रकार बनता है—तत्त्वमसि। **एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ**—आपकी स्थिति ब्राह्मी हैका अर्थ है कि जो स्थिति ब्रह्मकी है वही स्थिति आपकी है। जब आप ऐसी स्थितिमें आजायेंगे तो कभी मोहके दलदलमें नहीं फँसेंगे। इसलिए हे पार्थ! तुम इस स्थितिको प्राप्त करो। पार्थका अर्थ है पृथाका पुत्र। पृथा कुन्तीको कहते हैं। कुन्ती भगवान्‌की बुआ है। भगवान्‌का आशय है कि तुम मेरी बुआके पुत्र हो, भाई हो। अपने भाईसे ठीक-ठीक बात बता देनी चाहिए। देखो, पार्थमें जो 'प' है उसका अर्थ है परमेश्वर। **पातीति पः परमात्मा**—जो सबको रक्षा करे उसका नाम है 'प'। तात्पर्य यह कि जिसके जीवनका अर्थ केवल परमेश्वर ही है उसका नाम पार्थ है। जो परमेश्वरको ही चाहता है, परमेश्वरको ही प्रयोजनीय मानता है अर्थात् अपने जीवनमें सच्चाईको, सच्चे ज्ञानको धारण करना चाहता है वह पार्थ है। परमेश्वरको चाहना सच्चाईको चाहना है, परमेश्वरको चाहना सच्चे ज्ञानको चाहना है और परमेश्वरको चाहना सच्चे आनन्दको चाहना है। परमेश्वरका अर्थ है जो सबके भीतर एक है और जिसमें राग-द्वेषकी गन्ध भी नहीं, ऐसे परमेश्वरको प्राप्त करना ही ब्राह्मी स्थिति है और इसको प्राप्त करके किसीको विमोह नहीं होता—**नैनां प्राप्य विमुह्यति।**

संस्कृत भाषामें मोह शब्दका अर्थ होता है जिसमें सोचने-विचारनेकी शक्ति न रहे। मा, ऊहा = जिसमें ऊहा नहीं—ऊहापोहकी शक्ति नहीं, उसका नाम मोह। अथवा मुह् वैचित्त्ये अपने चित्तका विपरीत हो जाना मोह है। वास्तवमें महत्त्व है तुम्हारा। उसको तो तुम देखते नहीं, संसारके महत्त्वको देखते हो। तुम अपना स्वरूप भूलकर दूसरेके स्वरूपमें तन्मय हो गये हो। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जानेपर मोह नहीं होता। ब्राह्मी स्थितिकी ऐसी महिमा है कि यदि वह जीवन भर किसीको प्राप्त न हो, किन्तु मरते समय क्षण भरके लिए भी उसकी प्राप्ति हो जाय तो मङ्गल हो जाता है। संसारके राग-द्वेष जीवात्माको घसीटकर कहीं-का-कहीं ले जाते हैं। उसके अन्तःकरणको दूषित कर देते हैं। मनुष्यका अन्तःकरण मोटरकी तरह है। इसमें जो कामनाएँ हैं, संकल्प हैं, वे ड्राइवरकी तरह हैं। मनुष्यकी कामनाएँ और संकल्प ही उसके अन्तःकरणको जहाँ-तहाँ घसीटते फिरते हैं। यदि किसीको ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाये, एक क्षणके लिए भी प्राप्त हो जाये, अन्तिम समयमें भी प्राप्त हो जाये, तो उसकी स्थिति ब्रह्मनिर्वाणकी हो जाती है। वास्तवमें ब्राह्मीस्थिति मरनेके समय ही नहीं, जीवनमें ही प्राप्त करनेकी वस्तु है। जिसके जीवनमें ब्राह्मीस्थिति आजायेगी वह साक्षात् परमेश्वरकी तरह ही जीवित रहेगा। उसके जीवनका स्वरूप पूर्ण हो जायेगा। वहाँ न मृत्युका भय रहेगा, न अज्ञानका, न संयोगका, न वियोगका। पूर्ण केवल पूर्ण होता है, उसमें किसी प्रकारकी अपूर्णता नहीं रहती।

अब निर्वाण शब्दका अर्थ केवल उत्प्रेक्षाकी दृष्टिसे आपको सुनाते हैं। आप 'वाण'को लीजिये। ब और व में कोई भेद मत कीजिये। जब किसीको बाण लगता है तो पहले उसे दुःख होता है, दर्द होता है। बादमें वह बेहोश हो जाता है और मर भी

जाता है। दुःख होना आनन्दके विरुद्ध है, बेहोश होना ज्ञानके विरुद्ध और मरना सत्के विरुद्ध है। इसलिए निर्वाणका अर्थ वह स्थिति है जिसको प्राप्त कर लेनेपर न आपको दुःख होगा, न बेहोशी होगी और न आप मृत्युको प्राप्त होंगे। आपका जीवन परिपूर्ण हो जायेगा।

•

## प्रवचन—५

( २०-११-७४ )

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके दूसरे अध्यायमें बुद्धिपर बहुत बल दिया। कर्म-बुद्धिको भी बुद्धि कहा, सांख्य-बुद्धिको भी बुद्धि कहा। हमारे दार्शनिकोंने यह अनुसन्धान किया है कि मनुष्य कर्ममें तभी प्रवृत्त होता है जब उसके मनमें कोई-न-कोई इच्छा होती है। सभीको ठीक तरहसे सञ्चालित करनेवाली शक्तिका नाम इच्छा है। इच्छा होती है ज्ञानके अनुसार। जानाति, इच्छति, करोति—मनुष्य पहले समझता है, फिर छोड़ने या ग्रहण करनेकी इच्छा करता है तत्पश्चात् उस इच्छाके अनुसार प्रयत्नशील होता है। निष्कामताका अर्थ जड़ता नहीं, निष्फलता भी नहीं। यदि कोई कर्म बिना प्रयोजन किया जायेगा तो पानी पीटनेके ('जलताडन' बोलते हैं संस्कृतमें ) समान निष्फल जायेगा, शक्तिका अपव्यय होगा। इसलिए कोई भी कर्म प्रारम्भ करनेके पूर्व यह विचार कर लेना चाहिए कि उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी, उसमें क्या-क्या विघ्न पड़ेंगे और उन विघ्नोंको हम कैसे पार करेंगे ? वे लोग अधकचरे होते हैं जो निष्कामका नाम सुनके चौंक जाते हैं।

**अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।**
**मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥** (१८.२५)

प्रत्येक क्रियाका एक परिणाम होता है। दूधका मन्थन करने

पर क्रीम निकलती है। दहीके मन्थनसे नवनीत निकलता है। मन्थन एक कर्म है। यदि आपको यह ज्ञात नहीं कि दूध-दहीके मन्थनका परिणाम क्या होगा तो मन्थन-क्रिया निष्फल हो जायेगी। इसलिए कोई भी कर्म करना हो तो पहले उसका अनुबन्धन समझना चाहिए। अनुबन्धमें चार बातें विचारणीय हैं। पहली बात यह कि हम कर्मके अधिकारी हैं कि नहीं? हमें अमुक कर्म करना चाहिए कि नहीं? अर्थात् उस कर्ममें हमारा अधिकार होना चाहिए। दूसरे, कर्मको स्वरूपसे जानना चाहिए। कर्म कैसे करना है यह यदि आपको ठीक-ठीक करना नहीं आता, तो उसमें लगकर आप उसको बिगाड़ देंगे। तीसरे, कर्मके प्रयोजनका विचार करना चाहिए। चौथे यह देखना चाहिए कि उस कर्मके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार अधिकार, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध इन चारोंके ज्ञानका नाम अनुबन्ध है। शास्त्रकारोंने इन चारों बातोंपर विचार किया है और चेतावनी दी है कि कोई भी काम प्रारम्भ करनेके पूर्व इन चारों बातोंपर विचार कर लो। क्षयका अर्थ है हानि। अर्थात् यह काम करनेमें हमें अथवा दूसरोंको कितनी हानि पहुँचेगी? पौरुषम्का अर्थ है पुरुषार्थ। अर्थात् इस कामको पूरा करनेकी शक्ति हममें है कि नहीं। जो लोग इन बातोंका विचार किये बिना केवल मोहवश कर्म प्रारम्भ कर देते हैं, उनका कर्म तमोगुणी हो जाता है। तात्पर्य यह कि उनको अन्तमें निष्फलता प्राप्त होती है और कर्म करनेका आनन्द भी नहीं मिलता। अब आप इन चारों बातोंकी कसौटीपर विचार कीजिये। आप कोई कर्म कर लेनेके बाद थकानका अनुभव करते हैं या प्रसन्नताका? यदि आपको प्रसन्नता हो तो समझिये आपने अच्छा काम किया। ग्लानि हो तो समझिये आपका वह काम अच्छा नहीं। मनुस्मृतिमें कर्मके सम्बन्धमें यह कहा गया है—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषो चान्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥
( मनुस्मृति ४.१६१ )

कर्मके साथ आत्मतुष्टि अवश्य होनी चाहिए। कर्म करते समय यदि अन्तरात्माको सन्तुष्टिका अनुभव हो तो उसे प्रयत्न-पूर्वक करना चाहिए। जिस कर्मसे आत्मग्लानि या पश्चात्ताप होता हो वह नहीं करना चाहिए।

काशीमें एक महात्मा थे। उनसे किसीने कर्मके सम्बन्धमें उपदेश करनेकी प्रार्थना की तो उन्होंने उत्तर दिया कि तुम अपने कर्मके जज स्वयं हो। कोई काम करनेके बाद जब तुम्हारी अन्तरात्मा स्वीकार करती है कि तुमने बुरा काम किया तो वह काम संस्कार बनकर तुम्हारे साथ जुड़ जाता है। यदि तुम किसी कृत कर्मको अन्तरात्मासे नहीं, बलात् अस्वीकार करोगे तो समष्टिकी भावना तुमसे स्वीकृतिका हस्ताक्षर ले लेगी। इसलिए यह ध्यान रखो कि कर्म करते समय तुम्हारी अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो रही है, प्रसन्न हो रही है, अथवा ग्लानिका अनुभव कर रही है। मनुस्मृतिमें यह श्लोक भी आता है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥
( मनुस्मृति ८.९२ )

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥
( मनुस्मृति १२.११९ )

हमारे हृदयमें भगवान् आत्माके रूपमें रहते हैं। यदि उनसे तुम्हारा कोई मतभेद नहीं तो न गङ्गा नहानेकी आवश्यकता है और न किसी तीर्थकी यात्रा करने की। अपने आत्मदेवसे कोई

विवाद नहीं होना चाहिए। यदि हम अपने ज्ञान और आकांक्षाके अनुसार काम करते हैं तथा वह हमारे जीवनके साथ जुड़ जाता है तो हमारी बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है। अर्जुनने भगवान्से प्रश्न किया कि आप बुद्धि एवं कर्मकी तुलनामें बुद्धिको ही श्रेष्ठ और कर्मको कनिष्ठ मानते हैं। फिर मुझे ऐसे घोर कर्मोंमें क्यों लगाते हैं जिनमें हिंसा होती है। आपके मिले-जुले अस्पष्ट वचनोंसे मेरी बुद्धि मोहग्रस्त हो जाती है। कोई निर्णय नहीं कर पाती—

**व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।**

(गीता० ३.२)

यह प्रसंग पहले भी आ चुका है। आपको बताया जा चुका है कि अर्जुनके इन वचनोंसे उनका श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त प्रेम प्रकट होता है। सचमुच एक मित्र जैसे अपने मित्रसे बात करता है वैसे ही अर्जुन श्रीकृष्णसे बात कर रहे हैं। बहुत ममता और प्रियता भरी है उनकी बातोंमें। उत्तरमें भगवान्ने अर्जुनको दो प्रकारकी निष्ठा बतायी। निष्ठा उसे कहते हैं जहाँ हम स्थिर हो जायँ। 'न'का अर्थ है नितरां और 'ष्ठा'का अर्थ है डाँवाडोल न होना। स्थान और स्थितिमें जो स्थ है वही निष्ठामें भी है। हमारी निष्ठा हो गयी अर्थात् हम पक्के हो गये। अब तो यही करेंगे, इसी ढंगसे जीवनका निर्वाह करेंगे। इसी कर्ममें अपना पौरुष लगायेंगे और इसीसे हमारे प्रयोजनकी सिद्धि होगी। पहले भी कहा जा चुका है कि प्रयोजनपर दृष्टि रखे बिना कोई कर्म नहीं करना चाहिए। निष्कामता और निष्प्रयोजनतामें बहुत अन्तर है। प्रयोजनका अर्थ होता है—अवगतं तद् आत्मनि इष्यते—जिसका अनुभव होनेपर हम चाहें कि यह हमेशा हमारे साथ जुड़ा रहे। प्रयोजनका अर्थ प्रकृष्ट योजना भी है। अतः प्रयोजनका ध्यानमें रखकर ही कर्म करना चाहिए, निष्प्रयोजन नहीं।

तो भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको जो दो प्रकारकी निष्ठा बतायी, वह यह है—

**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ( ३.३ )**

यहाँ अर्जुनके लिए अनघ सम्बोधन है। 'अनघ' कहनेका अभिप्राय यह है कि तुम जो मुझे यह कह रहे हो कि मैं ठीक-ठीक बात न करके तुम्हें भ्रममें डाल रहा हूँ, इसमें तुम्हारा भाव शुद्ध है और जहाँ शुद्ध भाव है वहाँ शब्दावलीपर ध्यान नहीं दिया जाता। तुम्हारे शब्द कुछ भी हों, तुम्हारा तात्पर्य यह है कि तुम अपने कर्तव्यको तत्त्वतः जानना चाहते हो। इसलिए तुम निष्पाप हो।

इसके बाद श्रीकृष्ण बताते हैं कि निष्ठा स्वरूपमें अन्तर क्यों पड़ता है? एक तो सांख्ययोगकी दृष्टिसे, दूसरा कर्मयोगकी दृष्टिसे। सांख्यशास्त्रमें जगत्के पदार्थोंकी गणना की जाती है। पण्डितगण जगत्के पदार्थोंकी संख्या करते हैं। संख्याका अर्थ है सम्यक्-ख्याति। कोई भी पदार्थ कितने रूपोंमें ख्यात हो रहा है इसका आकलन। वेदान्ती लोग ख्याति शब्दका अर्थ भ्रम करते हैं। उनके सत्ख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति, आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति, आदि पारिभाषिक शब्दोंका तात्पर्य यह है कि वस्तु वस्तुतः है एक रूपमें और प्रकट हो रही है दूसरे रूपोंमें। सांख्य शब्दका अर्थ संसारके पदार्थोंका सम्यक् आख्यान है और उसके परिणाम-स्वरूप विवेक द्वारा अपने आत्माको अकर्ता एवं असंग जानना सांख्यका सिद्धान्त है। जो लोग बुद्धिमान् हैं उनके लिए विवेक द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करनेका मार्ग सांख्ययोग है और जो लोग प्रयत्न करके, प्रयास करके किसी वस्तुका निर्माण करना चाहते हैं, उनके लिए कर्मयोगका मार्ग है। निर्माण-विभाग है कर्मयोग और प्रमाण-विभाग है सांख्ययोग।

हमारे शास्त्रोंमें तीन विभाग माने हैं—तत्त्वमीमांसा, प्रमाण-मीमांसा और कर्ममीमांसा। सत्यवस्तु क्या है? यह तत्त्वमीमांसा है, उसको सिद्ध करनेके लिए प्रमाण क्या है? यह प्रमाणमीमांसा है और हमको किस ढंगमें वर्तना चाहिए यह आचार अथवा कर्म-मीमांसा है। कर्मकी शैली बनाना एक चीज है और उसको सम-झना दूसरी चीज है। कर्मयोग निर्माण करता है और सांख्ययोग जो वस्तु जैसी है उसको वैसी दिखाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब अन्तमें समझना ही है, ज्ञान ही प्राप्त करना है तो कर्म क्यों किया जाये? यह एक शास्त्रीय प्रसंग है कि जबतक हमारे साथ कर्म लगा रहेगा तबतक वह कुछ बनायेगा, कुछ बिगाड़ेगा और हम उसके कर्ता बने रहेंगे, उसके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ा रहेगा। जब कर्म करेंगे तो उसका फल उत्पन्न होगा और जब फल उत्पन्न होगा तो उसके अनुसार हमें भिन्न-भिन्न योनियोंमें जाना पड़ेगा, भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करने पड़ेंगे, यह काम कैसे होगा, वह काम कैसे होगा और उसका फल कैसे भोगेंगे, यह प्रसंग सामने आता जायेगा। जब कर्मसे पूरी तरह छुटकारा मिलेगा तभी आत्मदेव अपने स्वरूपमें स्थित होंगे और ब्रह्म स्वरूप बनेंगे। यदि कर्मसे आत्माका पूर्णरूपसे छुटकारा नहीं होगा तो उसकी मुक्ति नहीं होगी और उसको ब्राह्मीस्थिति प्राप्त नहीं होगी। कर्म होगा तो सुख-दुःखका अनुभव अवश्यम्भावी है। जब कर्मके फल-स्वरूप सुख-दुःख भोगते जायँगे तो मुक्ति किस बातकी हुई? इसलिए जीवनमें नैष्कर्म्यंका आना आव-श्यक है।

अब प्रश्न उठा कि जब नैष्कर्म्य ही अपेक्षित है तब पहलेसे ही कर्म क्यों न छोड़ दिया जाये? भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह बात ठीक नहीं। यदि तुम्हें नैष्कर्म्य प्राप्त करना है तो जो आवश्यक कर्म हैं उन्हें पूरा करना होगा—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते । (गी० ३.४)

अब इस बातको समझनेके लिए कुछ उदाहरण लीजिये। कतिपय मित्र यात्रा करने गये। उनका जो मुखिया था उसने कहा कि भाई जंगलसे लकड़ी इकट्ठी करो और गाँवसे चावल, दाल, हँडिया आदि ले आओ। फिर भोजन पकाकर खायेंगे और खानेके बाद आग बुझा देंगे। इसपर एकने कहा कि जब अन्तमें आग बुझानी ही है तो जलानेकी क्या आवश्यकता है? उसकी यह बात गलत थी। इसी प्रकार यदि कोई कहे कि जब हमें अन्तमें कर्म छोड़ना है तब पहले ही क्यों न छोड़ दें? तो वह कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

इसी प्रकार यदि किसी बालकको कहा जाये कि पहली पोथी पढ़ लो फिर दूसरी-तीसरी पढ़ना और वह बालक जवाब दे कि जब पहली पोथी पढ़कर छोड़नी ही है तो मैं उसे अथवा दूसरी-तीसरी पोथियोंको क्यों पढ़ूँ। मुझे तो वह पोथी पढ़नेके लिए दो जिसे पढ़कर कभी छोड़ना न पड़े। तो ऐसे बालकको कभी शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती।

अतः क्रम-क्रमसे ही सब कुछ करना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति यदि कर्म करेगा ही नहीं तो उसके पौरुषका आविर्भाव कैसे होगा? पौरुषका आविर्भाव आवश्यक है। वह सभी मनुष्योंके लिए सम्भव है। क्योंकि सबके हृदयोंमें सर्वशक्तिमान परमेश्वरका निवास है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (गी० १८.६१)

भगवान्‌ने अपने लिए कोई बँगला न बनाकर समस्त प्राणियोंके हृदयोंको अपना निवास-स्थान बनाया। संसारके सच्चे साधु-सन्त भी ईश्वरकी सत्ता और महत्ताके प्रतीक हैं। वे अपने लिए कोई आश्रम न बनाकर समस्त संसारको अपना आवास समझते हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि वे मुफ्तका खाते हैं। परन्तु भिक्षा माँगनेमें और उसके लिए कहीं-कहीं अपमानित होनेमें जो श्रम पड़ता है इसे भुक्तभोगी साधु-सन्त ही जानते हैं। यह बात दूसरी है कि उन्हें सुख-दुःख और मानापमानका विशेष विचार नहीं होता। क्योंकि सुख-दुःख तथा मानापमानमें जीवन समान रहनेसे भी जीवनका निर्माण होता है। साधु-सन्तोंकी सहनशीलता तथा त्याग-वृत्ति एक ओर जहाँ गरीबोंको गरीबीमें भी जीवन व्यतीत कर सकनेका आश्वासन देती है वहाँ श्रीमन्तोंको भी विलासितासे बचने तथा संयमित रहनेकी प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रकार सच्चे साधु-सन्त धनी और निर्धनके मध्य सेतु बनकर उसको समन्वित करनेका काम करते रहते हैं।

मनुष्यके भीतर ईश्वरके रूपमें एक महान् शक्ति विद्यमान है और आपका सम्बन्ध उस महाशक्तिसे है जो सारी सृष्टिका संचालन करती है। किन्तु उसका साक्षात्कार तभी होता है जब आप अपने भीतरके पौरुषको जगाते हैं। आप जानते हैं पावर-हाउसमें बिजली बहुत होती है परन्तु आपको आपके बल्बके अनुसार ही प्रकाश मिल पाता है। यदि आपका बल्ब कमजोर होता है तो बहुत अधिक बिजली आनेपर फ्यूज उड़ जाता है। इसलिए ईश्वरीय शक्तिरूपी विद्युत्का भरपूर प्रकाश प्राप्त करनेके लिए अपने पौरुषरूपी बल्बको शक्तिशाली बनाना चाहिए। आपके जीवनमें जितना अधिक पौरुष प्रकट होगा, उतना ही अधिक ईश्वरीय शक्तिका उपयोग आप कर सकेंगे अथवा उन्हें छोड़ भी सकेंगे। बहुत-से लोगोंमें कर्म करनेकी तो शक्ति होती है पर उसे छोड़नेकी शक्ति नहीं होती। ऐसी शक्ति अधूरी है। जो मशीनको बन्द नहीं कर सकते उन्हें चलानेका कोई अधिकार नहीं। हममें भी हर कर्म कर सकनेकी तरह कर्म छोड़नेकी शक्तिका भी जागरण होना चाहिए। कर्मके साथ नैष्कर्म्य भी होना

चाहिए। इसलिए कर्म प्रारम्भ करो और नैष्कर्म्यकी शक्तिका उपार्जन करो—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (३.४)

यदि कोई कहे कि हम कर्मसे संन्यास ले लेंगे तो उससे किसी सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होगी। मनमें यदि कामना होगी तो वह कभी आगे बढ़ने नहीं देगी। कामना अपनी दिशामें ले जाती है।

वासना तीन प्रकारकी होती है। एक होती है आगेकी वासना। हम चाहते हैं कि हमको यह फल मिले। दूसरी यह होती है कि हमारा कर्म पूरा हो जाये और तीसरी यह होती है कि हम हमेशा कर्म करते रहें। इनमें अन्तर होता है। एक मनुष्य ऐसा है जिसके भीतर वासना भी है और कर्म भी है; वह साधारण मनुष्यकी तरह काम कर रहा है। यदि कोई कहे कि हम कर्म तो नहीं करेंगे परन्तु वासनाको पड़ी रहने देंगे तो वह भ्रष्ट और मिथ्याचारी हो जायेगा—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ (३.६)

जिसके मनमें वासना भरी रहती है और जो बाहरसे हाथ-पाँव बाँधकर बैठे रहते हैं और सिद्ध बननेका स्वांग करते हैं वे मिथ्याचारी अथवा ढोंगी कहलाते हैं। यदि कोई ईमानदारीसे वासनाको मिटाना चाहता हो तो वह साधक है। एक मनुष्य कर्म तो करता है, परन्तु उसके भीतर वासना नहीं, वह बहुत श्रेष्ठ है, मुमुक्षु है। सिद्ध पुरुष वह है जिसमें न कर्म है, न वासना। उसमें यदि समाधि है तो वह समाधिस्थ है। यदि केवल तत्त्वज्ञान की दृष्टि है तो वह तत्त्वज्ञानी है। इन सबका अपने-अपने स्तरके अनुसार अलग-अलग विभाग होता है। केवल वासना होना, कर्म

न होना सबसे निम्नस्तर है। कर्म और वासना दोनोंका होना उससे श्रेष्ठ है। वासना न होकर केवल कर्मका होना उससे भी श्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ है कर्म और वासना दोनोंसे मुक्त होकर रहना तथा यथाप्राप्त व्यवहार करना जो तत्त्वज्ञानीका लक्षण है। कर्म एवं वासनाके भावसे रहित होकर समाधिस्थ हो जाना सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार सब अवस्थाओंकी एक कसौटी होती है। उसका विचार किये बिना जो विवेकहीन गतिविधियाँ होती हैं वे हमारे भगवान् श्रीकृष्णको मान्य नहीं। अबतक दो बातोंका स्पष्टीकरण हो गया। एक तो यह कि कर्म अवश्य होना चाहिए। दूसरा यह कि कर्मके संस्कार छुड़ानेके लिए नैष्कर्म्यकी प्राप्तिके लिए भी शोधक कर्म करना चाहिए। वास्तवमें कर्मकी तीन विधाएँ होती हैं—तीन प्रकार होते हैं। एक होता है दोषापनयन जो हमारे जीवनमें दोष लगे हैं उनको दूर करना। दूसरा होता है गुणाधान—अपने स्वभावको ही चमका देना और तीसरा होता है हीनांगपूर्ति—अपनेमें जो कमी है उसको पूरी कर देना। जैसे आपके शरीरमें कहीं कोई मस्सा हो और उसको निकाल दिया जाये तो यह दोषापनयन हो गया। शरीरको चमकानेके लिए कोई चिकनी चीज लगा दी तो वह गुणाधान हो गया। कहीं गड्ढा हो और उसे भर दिया तो हीनांगपूर्ति हो गया। शरीरकी गन्दगीको दूर करना, चमक जाहिर करना और कमी पूरी करना इसको संस्कृत-भाषामें संस्कार कहते हैं। दोषापनयन, गुणाधान और हीनांग-पूर्ति ये तीनों पारिभाषिक शब्द मीमांसाके हैं। यह हमलोग रोज-रोज करते हैं। साबुन लगाते हैं, क्रीम लगाते हैं और कंघी इस ढंगसे करते हैं कि जहाँके बाल उड़े हुए हों वह ढंक जाय। कहीं-कहीं तो बाहरसे खरीदकर भी बाल लगाये जाते हैं। जिस प्रकार शरीरका संस्कार होता है उसी प्रकार मनका भी संस्कार करना पड़ता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ (३.५)

यदि कोई कहे कि हम कर्म छोड़कर निकम्मे बैठ जायेंगे तो ऐसा सम्भव नहीं। मैं ऐसे कई बाबाओंको जानता हूँ जो संसार छोड़कर जंगल अथवा हिमालयमें चले गये, परन्तु वहाँ भी वे किसी-न-किसी कर्ममें संलग्न हो गये। सोना-जागना, उठना-बैठना घूमना-फिरना आदि भी तो कर्म ही हैं। बिना काम किये शरीर रह ही नहीं सकता। इसलिए जब कर्म अनिवार्य है तब उन्हें व्यवस्थित, मर्यादित और प्रयोजनपूर्वक करना चाहिए। प्रयोजनमें भी चार बातें ध्यान करने लायक हैं। एक तो यह कि इससे लोकका भला होता है। दूसरे, इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। तीसरे, इससे परमेश्वर प्रसन्न होते हैं। चौथे इसको पूरा करना हमारा कर्त्तव्य है, वैसे किसी कामको पूरा करना अपने वशकी बात नहीं। यह भी एक कामना ही है! यदि भगवती भागीरथी ब्रह्मलोकसे धरतीपर आ सकती हैं तो हमारी दूसरी, तीसरी पीढ़ी भी हमारे अधूरे कामको पूरा कर सकती है। अपनेसे जितना सम्भव हो सके उतना करते चलना चाहिए।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

काम करनेका ढोंग बिलकुल नहीं करना चाहिए। ढोंग क्या है? यही कि हम चाहते तो हैं सब कुछ परन्तु बोलते हैं कि हमको कुछ नहीं चाहिए। ढोंगका पता कर्मसे भी चलता है। मैं निष्काम हूँ, कहने मात्रसे मनुष्य निष्काम नहीं होता। जब वह अपनी कामनाका सदुपयोग करता है तब निष्काम होता है। पहले शुभ-कामना होनी चाहिए फिर भगवत्प्राप्तिकी कामना होनी चाहिए और फिर भगवान् मिले-मिलाये हैं—यह ज्ञान हो जानेपर कामनाकी निवृत्ति करनी चाहिए। कामना अपने हाथमें नहीं कि

जब हम चाहेंगे तब उसको उठाकर फेंक देंगे। क्रम-क्रमसे अभ्यास करनेपर ही निष्कामता आसकती है।

अब फिर यह प्रश्न उठा कि कार्य कैसे करना चाहिए? इसका उत्तर श्रीकृष्ण देते हैं कि मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके कर्म करना चाहिए—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (३.९)

भगवान्‌का कहना है कि विशिष्ट कर्ता अथवा अच्छा काम करनेवाला वही है जो किसी कर्ममें आसक्त नहीं होता। उसे इन्द्रियोंकी चर्चामें नहीं पड़ना चाहिए। खाने-पीनेकी व्यवस्था तो जीवनमें होनी ही चाहिए, अन्यथा अपने आपको ही मार डालेंगे। ऐसा भोग जो कर्म-शक्तिका ही लोप कर दे, वर्जित है। ऐसी दवा भी जिसको खानेसे दो-चार-दस दिन तो लाभ प्रतीत हो, अच्छा भोग मिले, बादमें भोग-शक्तिका ही लोप हो जाये, निषिद्ध है। हमें तो ऐसी खुराक चाहिए जिससे मेधा प्राप्त हो, बुद्धि प्राप्त हो।

ये छह बातें ध्यानमें रखने योग्य हैं—पहली, यदि आप सिद्धि चाहते हैं तो भी कार्य करना चाहिए। दूसरी, केवल कर्मत्यागसे कोई सिद्धि नहीं मिलती। तीसरी, बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता। चौथी, वासना रखकर कर्म छोड़ दोगे तो पतन हो जायेगा। पाँचवीं, वासना मिटानेके लिए व्यवस्थित कर्म अपेक्षित है। छठी, कर्मके अभावमें मनुष्यका जीवन चल ही नहीं सकता। इसपर थोड़ा और विचार करें। यदि कर्म नहीं होगा तो शरीरकी यात्रा चल ही नहीं सकती—

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः। (३.८)

शरीरमें कर्म-ही-कर्म हो रहे हैं। जिस प्रकार अपने आप पलक गिरती है, साँस चलती है उसी प्रकार शरीरके प्रत्येक अवयवमें कुछ-न-कुछ क्रिया होती रहती है। क्रियाके साथ विक्रिया भी होती है। विक्रियाका अर्थ है विकार। बच्चे जवान हो रहे हैं, जवान बूढ़े हो रहे हैं। काले बाल सफेद हो रहे हैं। ये सब क्या हैं? यही कि प्रकृतिके नियमानुसार इस शरीरमें स्वतः परिवर्तन हो रहे हैं। हम क्रियाके माध्यमसे जीवन धारण करते हैं। परन्तु विक्रिया निसर्गके नियमानुसार स्वयं होती है। क्रियाका कर्त्ता होता है और विक्रिया स्वाभाविक होती है। यदि हम स्वभावपर छोड़ देंगे तो जीवनमें सत्त्वगुणसे रजोगुण और रजोगुणसे तमोगुण आजायेगा।

हमारे एक मित्र हैं। उन्होंने देखा कि सड़कपर एक कोढ़ी आदमी है। उसकी साँस भी तेज चल रही है। वह दमेका रोगी है। उनके हृदयमें बहुत दया आयी और वे उसको उठाकर अपने घर ले आये। उसको स्नान कराया, वस्त्र पहनाया, बढ़िया भोजन खिलाया, आराम कराया। अब उसके मनमें आया कि आज मैंने बहुत बढ़िया काम किया। वास्तवमें उन्होंने काम अच्छा किया। दया सत्त्वगुण है। परन्तु उनका यह विचार कि उन्होंने इतना अच्छा काम किया कि जो दूसरे नहीं कर सकते। उनके कर्तृत्वाभिमानका कारण बन गया। दयाके बाद अभिमान आया जिससे उन्होंने अपने आपको बड़ा समझा। फिर उनकी दृष्टि उस कोढ़ीकी गन्दगीपर गयी कि इसके शरीरसे तो पीब निकल रही है, हमारा घर गन्दा हो रहा है। अब उनके हृदयमें उस रोगीके प्रति घृणा हो गयी। उन्होंने उसको घरसे बाहर कर दिया। इस प्रकार घृणामें तमोगुण और अभिमानमें रजोगुण आगया।

मनुष्यका जो मन है, वह स्वभावसे ही सत्त्वसे रजमें और रजसे तममें जाता रहता है। किन्तु यदि हम इसमें भगवत्सेवाकी भावना जोड़ दें और यह समझें कि हमने उस रोगीका कोई उपकार नहीं किया; बल्कि भगवान्‌की सेवा की है और वह भी ऐसी सेवा नहीं की, जो दूसरे नहीं कर सकते, तो बात बदल जाती है। इस विशाल संसारमें कितने कोढ़ी हैं, कितने दमेके रोगी हैं, कितने विकलांग हैं, इसपर आपकी दृष्टि जायेगी तो आप अनुभव करेंगे कि आपने जो एक रोगीकी सेवा की वह कोई बहुत बड़ी सेवा नहीं, और न इसकी कोई कीमत है। यदि आप समग्रतापर, ईश्वरतापर ध्यान रखेंगे तो आपका सत्त्वगुण—रजोगुण और तमोगुणके रूपमें परिवर्तित नहीं होगा तथा आपकी दया घृणा न बन सकेगी। हमारा यही कर्म है, यही पौरुष है कि हम दयाको घृणा न बनने देंगे। दया आना स्वाभाविक है, घृणा आना भी स्वाभाविक है। परन्तु आपका पौरुष यह है कि आप अपने जीवनमें अभिमान न आने दें और अपने कर्तव्यको ठीक-ठीक पूरा करते चलें। भगवान्‌ने यह सृष्टि ऐसी बनायी है कि इसपर आपका ध्यान जाये और आप इससे प्रेरणा ग्रहण करें। सूर्य सबको निरन्तर रोशनी देता है। उसके रूपमें स्वयं ईश्वर प्रकट होकर कर्म-यज्ञका आदर्श उपस्थित करता है। यज्ञ माने यजन, पूजन। अतः हमें इस बातका ध्यान करना चाहिए कि हमारे कर्मयज्ञ किस देवताका भजन-पूजन कर रहे हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (३.१०)

यज्ञके सम्बन्धमें एक वेदमन्त्र है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव
पुनर्ददता घ्नता जानता संगमेमहि। (ऋ. ५.५१.१५)

इसका तात्पर्य है कि हम इस जीवनमें सूर्यके समान प्रकाश देते हुए और चन्द्रमाके समान चाँदनी बरसाते हुए निरन्तर चलते रहें। हम अपने मित्रोंको पहचानें, सत्पात्रको दान दें और किसीको दुःख न पहुँचावें। यही यज्ञकी प्रणाली है। यह प्रकट हुआ है पृथिवीके रूपमें, यह सबको फूल देती है, पौधा देती है। हरे-हरे वृक्ष पृथिवीके वैभव हैं। ये हमारी आँखोंको शीतलता देते हैं, नासिकाको सुगन्ध देते हैं, प्राणोंको शक्ति देते हैं, हमारे हितके लिए आकाशमें फैली हुई अच्छाइयोंको आकृष्ट करके धरतीपर ले आते हैं और पानी बरसाते हैं। यज्ञ केवल अग्निमें आहुति देनेका नाम नहीं, वह भी यज्ञ है। पृथिवी जब गुलाब, चमेली, मालती, माधवी आदिके फूलोंको खिलाती है और उसके द्वारा सृष्टिमें जो सुगन्ध फैलती है वह क्या आपके हवनके धूएँसे कुछ कम है? जल हमारे हृदयोंको तर कर रहा है, आप्यायन दे रहा है। तेज हमें शक्ति दे रहा है। सूर्य-चन्द्रमा रोशनी दे रहे हैं। वायु सांस दे रहा है। आकाश अवकाश दे रहा है। इस प्रकार यह सारी सृष्टि हमारे लिए एक यज्ञ-प्रक्रिया है।

हमारा जन्म ही यज्ञके साथ हुआ है। भगवान्ने कहा कि इस संसारको देखो और यहाँ प्रकृति द्वारा जो यज्ञ हो रहा है उससे प्रेरणा ग्रहण करके आगे बढ़ो। **प्रसविष्यध्वम्**का अर्थ है खूब बढ़िया-बढ़िया फल आपके जीवनमें प्रकट हों। प्रजापतिने आदेश दिया कि आप यज्ञ करेंगे तो आगे बढ़ेंगे, देंगे तब प्राप्त करेंगे, प्रेम करेंगे तो आपको प्रेम मिलेगा, सेवा करेंगे तो सेवा मिलेगी।

**देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।**
**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ( ३.११ )**

इसका अर्थ है कि आप देवताओंको दीजिये तथा देवता आपको देंगे। एक अर्थ यह भी है कि आप भोजन ठीक कीजिये, पानी ठीक पीजिये और शयन ठीक कीजिये। देवता आपके शरीरमें भी हैं। कान देवता हैं, आँखें देवता हैं, त्वचा देवता हैं, पाँव देवता हैं, मन देवता है, बुद्धि देवता है। देवता माने एक प्रकारकी दिव्यता, एक प्रकारकी विलक्षण शक्ति। यदि आप अपनी इन इन्द्रियोंको ठीक-ठीक सँभालकर नहीं रखेंगे तो वे आपको कैसे सँभालेंगी ? इसलिए पहले आप अपनी इन्द्रियोंको सँभालिये फिर वे आपको सँभालेंगी। इसको ऐसे भी समझिये कि किसान लोग अपने खेतोंमें खेती करते हैं और उन लोगोंको अन्न प्रदान करते हैं जो खेतीका काम न करके वस्त्रोत्पादन आदिका काम करते हैं। जो लोग वस्त्रोत्पादन करते हैं, उनको खानेके लिए अन्न चाहिए। जो किसानी करते हैं उनको पहननेके लिए कपड़े चाहिए। वस्त्रोत्पादन करनेवाले यदि यह चाहें कि उनको सस्ता अन्न मिले, तो अन्न पैदा करनेवालोंको भी सस्ता कपड़ा मिले, इसकी व्यवस्था उनको करनी चाहिए। परस्पर हितकी भावना जब छूट जायेगी, वर्गवाद आजायेगा। वर्गवाद संघर्षकी सृष्टि करता है। असलमें वर्ग शब्दका अर्थ ही है संवर्जन, अर्थात् तुम नहीं मैं। संवर्ग शब्द उपनिषदोंमें बहुत अधिक प्रसिद्ध है—'वर्जनम् वर्गः'। जहाँ भी वर्ग बना वहाँ संघर्ष हुआ। जब आप व्यवहारमें एक दूसरेके हितपर दृष्टि रखेंगे तभी आपको श्रेयकी प्राप्ति होगी।

एक और छोटी-सी बात आपको सुनाता हूँ। वृन्दावनमें ग्वारिया बाबा नामके एक प्रसिद्ध महात्मा रहते थे। उनके प्रति दतियाके राजाकी बड़ी श्रद्धा थी। वे उनको अपना गुरु मानते थे। एक बार वे उनको आग्रह पूर्वक दतिया ले गये। वहाँ राजाने पूछा—'महाराज ! आपकी क्या सेवा करें ?' बाबा बोले—'मुझे

राजा बना दे।' राजाने कहा—'ब्रिटिश सरकारसे अनुमति लिये बिना मैं आपको राजा नहीं बना सकता।' किन्तु जब बाबापर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे राजा बननेका आग्रह करते रहे, तब राजाने कहा—'अच्छा महाराज! मैं तीन दिनके लिए राज्यसे कहीं बाहर जा रहा हूँ और आप शासनकी बागडोर सम्भाल लीजिये।' बाबा बोले—'अच्छी बात है मेरे लिए तीन दिन बहुत हैं।' राजा जाते समय आदेश दे गये कि सब लोग बाबाकी आज्ञाका पालन करें। अब बाबाने पहले बुलाया दीवानको और आदेश दिया कि तुम आजसे चपरासीका काम करो, चपरासीसे कहा कि तुम दीवानका काम करो। रानीसे कहा कि तुम रानी नहीं हो दासीका काम करो। दासीको कहा कि रानीके आसनपर बैठ। राजकुमारको कोड़े लगवानेका अभ्यास था। बाबाने एक आदमीको बुलाकर कहा कि राजकुमारको कोड़ा लगाकर बताओ कि वह कैसा लगता है? मैनेजर छुट्टी लेने आये तो कहा कि जो पहले चपरासी था उससे छुट्टी लेकर जाओ। चपरासीने कहा, महाराज मुझसे मैनेजरका काम नहीं सँभलेगा। बोले, जाओ मैनेजरसे छुट्टी लो। इस प्रकार तीन दिनके शासनमें बाबाने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि सब हाय-हाय कर उठे। जब राजा लौटकर आये और उन्होंने पूछा कि महाराज आपने यह सब क्या किया? तो बाबाने उत्तर दिया कि तुम लोगोंको अपनी-अपनी सुख-सुविधाका अनुभव तो है परन्तु सामनेवालोंकी कठिनाइयोंका कोई ज्ञान नहीं। रानीको ज्ञान नहीं कि दासीको क्या कष्ट है। दासीको मालूम नहीं कि रानीको क्या असुविधा है। मैनेजरको मालूम नहीं कि चपरासीको क्या कष्ट है, चपरासीको मालूम नहीं मैनेजरको क्या कष्ट है। यह एक उदाहरण है। आप 'परस्परं भावयन्तः'के अनुसार एक दूसरेकी तकलीफको समझिये। जैसे आपको ताप-कला होती है वैसे ही सामनेवालेको भी होती

है। इसलिए आप उनको सहायता पहुँचाइये और वे आपको सहायता पहुँचायें। इसमे श्रेयकी प्राप्ति हो जाती है, प्रेयमें तो रखा ही क्या है ? जीवोंको खुश करनेके लिए थोड़े-से पैसे चाहिए, थोड़ी-सी सुविधा चाहिए। सभी लोग अपने-अपने ढंगसे निर्वाह कर लेते हैं। कोई विलायतकी बहुत ऊँची शराब पीता है और कोई गाँवका बना हुआ ठर्रा पीता है। दोनों अपना गम गलित कर लेते हैं। कोई बहुत अच्छा माल खाते हैं, कोई साग-सत्तूसे काम चलाते हैं। सबकी भूख मिटती है, सबको नींद आती है। सब जिन्दा रहते हैं। परन्तु जबतक परस्पर सुख पहुँचानेकी बुद्धि नहीं होगी तबतक शान्ति नहीं आयेगी।

कर्मयोगके इस प्रसंगमें सिद्धान्तकी जो बढ़िया बात बतायी गयी है, वह यह है कि यज्ञको सात भागोंमें बाँट दिया गया है। अन्न, भूत और पर्जन्य ये तीन हैं पहले। बीचमें यज्ञ, तत्पश्चात् कर्म, ब्रह्म एवं अक्षर ये तीन हैं। कुल सात हुए। जो लोग गीता पढ़ते हैं वे इस श्लोकमें देखें—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (३.१४)
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ (३.१५)

इन श्लोकोंका अर्थ हम बहुत थोड़ेमें समझाते हैं। बात प्राचीन पद्धतिसे कही गयी है और नयी पद्धतिसे हम उसको समझानेकी कोशिश करते हैं। एक शब्द है जो दो हजार वर्ष पहले बहुत अच्छे अर्थमें प्रयुक्त होता था किन्तु आज उसका बहुत बुरा अर्थ हो गया है। इसी प्रकार जो शब्द पहले बुरे अर्थमें प्रयुक्त होता था, अब अच्छे अर्थमें प्रयुक्त होने लगा है। मैं ऐसे कितने ही शब्दोंको जानता हूँ—जिन्होंने दो हजार वर्षमें अपना कलेवर,

अपना अर्थ, अपना प्रयोग बदल दिया है। जो लोग पुरानी बातको पुरानी भाषामें नहीं समझते, नयी भाषामें समझनेकी कोशिश करते हैं, वे अपनी बात तो ठीक कह लेते हैं, लेकिन पुरानी बातमें क्या कहा गया है, यह पकड़ नहीं पाते और उसके साथ अन्याय हो जाता है। आपने 'जीव' शब्दपर ध्यान दिया होगा ? इसका जो मूल रूप है उसको 'बीज' बोलते हैं। ज+ई+व मिलाकर जीव बनता है और ब+ई+ज मिलाकर बीज। एक ओरसे पढ़ते हैं तो 'बीज' और दूसरी ओरसे पढ़ते हैं तो 'जीव'। जहाँतक उच्चारणकी बात है 'व' अन्तःस्थ है और 'ब' ओष्ठ्य। जब हम वृक्ष-वनस्पतियोंके बारेमें बताते हैं तब बीज शब्दका प्रयोग करते हैं और चेतनके बारेमें बताते हैं तब जीव शब्दका प्रयोग करते हैं। वृक्ष-वनस्पति भी प्राणी हैं, ये हवामें साँस लेते हैं और आपसमें बातचीत भी करते हैं। परस्पर सम्बन्ध रखते हैं। वसन्त ऋतुमें जब सरसों फूलती है तो उसका एक पौधा दूसरे पौधोंपर निशाना लगाकर पिचकारी मारता है। वृक्ष-वनस्पितियोंको गाली दी जाये तो वे उदास हो जाते हैं। संगीत सुनाया जाये तो सुखी हो जाते हैं। इनमें भी भाव होता है। वैज्ञानिकोंने यह सब देख लिया है। सभी प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं।

**अन्नाद्भवन्ति भूतानि**—अन्न सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके लिए है। पृथिवी अन्न है, जल अन्न है, अग्नि अन्न है, वायु अन्न है, आकाश अन्न है, क्योंकि इन सबका भोजन करते हैं, 'जीव' और 'बीज'। यदि बीजको खानेके लिए मिट्टी न मिले, पीनेके लिए पानी न मिले, रोशनी न मिले तो क्या बीज अंकुरित होगा ? आगे बढ़ेगा ? बीजको भी भोजन चाहिए और जीवको भी। इसलिए चमकनेवाली सारी सृष्टि माया, प्रकृति, अविद्या, महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा ये सब अन्न हैं। अन्नसे ही जीव प्रकट होते हैं। परन्तु अन्नका स्वभाव पर्जन्यसे प्रकट होता है। पर्जन्यका अर्थ है मेघ,

मेहन करनेवाला परमात्मा परमेश्वर। एक जीव ही समष्टि जीव है, हिरण्यगर्भ है और वही पर्जन्य है। वह सबपर बरसता है। परन्तु उसमें विशेषता यज्ञसे आती है। जिसके जीवनमें जितना यज्ञ है, उसमें उतनी ही उत्कृष्ट विशेषता है। पहले यज्ञ है फिर पर्जन्य है। पर्जन्यसे अन्न है और अन्नसे प्राणी हैं। तीनके ऊपर जो यज्ञ है और यज्ञके ऊपर जो तीन हैं, इन सबको चक्र बोलते हैं। यज्ञ है चक्री और छह हैं उसके अरे। यदि संसारकी ओर देखें तो यज्ञ ही जीवको, अन्नको और प्राणियोंको पालन-पोषण दे रहा है। ऊपरकी ओर देखें तो यज्ञसे कर्म, कर्मसे ब्रह्म, ब्रह्मसे अक्षर—इनका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार यज्ञ परमात्माके साक्षात्कारमें भी सहायक है और सृष्टिके सञ्चालनमें भी सहायक है। यज्ञ बीचमें धुरीके केन्द्रमें बैठा हुआ है। इसीसे परमात्मा मिलता है और इसीसे संसार बनता है। हमारे जीवनमें यज्ञका आविर्भाव होना चाहिए। यदि यज्ञ नहीं आयेगा तो संसारका न तो आध्यात्मिक कल्याण होगा और न भौतिक। जैसा कि यज्ञके बारेमें आपको कई बार बताया गया, एक ओर यज्ञ जहाँ ग्रहण करता है दूसरी ओर उसे लौटा देता है। आपके हाथ कमायें लेकिन जिससे कमाते हैं उनके ऊपर फिर बरस दें। ठीक वैसे ही जैसे मेघ समुद्रसे जल लेकर बरस देता है। जल मेघका जीवन भी है और दूसरोंका जीवन भी है। यह जो सृष्टि-यज्ञ हो रहा है इसके अनुसार हम अपनेको सूर्यके साथ, चन्द्रमाके साथ, वायुके साथ-अग्निके साथ जितना जोड़ देंगे और इनके गुणोंको धारण करके जितना सबका भला करेंगे उतना ही हमारे जीवनमें यज्ञ आयेगा और उससे संसार भी बनेगा तथा भगवत्प्राप्ति भी होगी।

•

## प्रवचन—६

( २१-११-७४ )

भगवान् श्रीकृष्णने यज्ञ रखा बीचमें। एक ओर परमार्थ तथा दूसरी ओर व्यवहारको प्रतिष्ठित किया। शरीर-निर्माणके निर्वाहक तत्त्व हैं भूत और उनका निर्वाहक तत्त्व है अन्न। मिट्टी, पानी, आगमें भोक्ताकी जो शक्ति है वह पर्जन्य है। सम्पूर्ण विश्वका भोक्ता एक होता है। जीव-दृष्टिसे आत्मा सबका भोक्ता है और सबके रूपमें है। विश्व-दृष्टिसे परमेश्वर सबका भोक्ता है। सबका भोग ईश्वर कर रहा—यह विश्वास है और सबका भोग आत्मदेव कर रहे हैं—यह अनुभूति है। ईश्वरके सम्बन्धमें हम जितना सोचते हैं—यदि विश्वास नहीं होगा तो उसका पूरा पड़ना कठिन हो जायेगा। अपने बारेमें हम जितना सोचते हैं, उतना सब-का-सब अनुभवारूढ़ होना चाहिए, केवल कल्पना नहीं। अनुभवकी दिशा है आत्मा और विश्वासका गन्तव्य है परमात्मा।

एक बात देखो। दृष्टिकोणका भी फर्क हो जाता है। दुनियाको यदि केवल मशीनोंसे नापा जाये तो जड़ता-ही-जड़ता मिलेगी, क्योंकि मशीनकी नोंकपर जड़ आता है, चेतन कभी आता ही नहीं। साइन्स सारा-का-सारा मशीनकी नोंकपर चलता है। इसलिए उसको जड़, मैटर—मृत्तिका आदिके सिवाय दूसरी कोई वस्तु मिलनेवाली नहीं। जब केवल बुद्धिसे सोचते हैं तब शून्यका बोध होता है, जब श्रद्धायुक्त बुद्धिसे सोचते हैं तब ईश्वर प्राप्त होता है और जब अनुभूतिके सम्मुख परमेश्वरको देखते हैं तब

आत्मा एवं ब्रह्मकी एकता मिलती है। हम कहाँ बैठे हैं और किस दृष्टिकोणसे सृष्टिको तौल रहे हैं इसके कारण बहुत फर्क पड़ जाता है। आप किसी पत्थरके टुकड़ेको यहाँ बैठकर तौलिये और फिर उसीको भारमुक्त वातावरणमें तौलिये तो उसके वजनमें फर्क पड़ेगा। इस तरह हम वस्तुओंके सम्बन्धमें जो नाप-तौल करते हैं, वह हमारे स्तरके अनुरूप हो जाता है। अनुभवके क्षेत्रमें आत्माका बाध नहीं। यह बताया जा चुका है कि हम लोग जो कर्म अथवा यज्ञ करते हैं, उसमें पहले शरीर है। शरीरके बाद भूत हैं, भूतके बाद भोक्ता है और भोक्ताके बाद यज्ञ बैठा हुआ है। फिर यज्ञके बाद कर्म, कर्मके बाद ब्रह्म और ब्रह्मके बाद अक्षर है। तीन ऊपर और तीन नीचेके छह अरोंवाले चक्रको चलानेवाला है यज्ञ। यदि आप स्वार्थ चाहते हैं तो भी यज्ञ कीजिये और परमार्थ चाहते हैं तो भी यज्ञ कीजिये। यज्ञ एक ओर आपके अन्तःकरणको शुद्ध करेगा और दूसरी ओर आपको मनचाहे फल देगा। यज्ञको संसारकी ओर लगायें तो मनचाहे फल मिलेंगे और निष्काम होकर करें तो अन्तःकरण शुद्ध होकर परमार्थका साक्षात्कार होगा। भगवान्‌ने यज्ञका यह विज्ञान तीसरे अध्यायमें निरूपित किया। इसमें भी स्थिति-भेदसे कर्ताओंके दो विभाग कर दिये। एक कर्तव्य-बोधसे मुक्त होकर कर्म करनेवाले और दूसरे कर्तव्यके बन्धनमें रहकर कर्म करनेवाले। जबतक अज्ञान है तबतक बन्धन अथवा मर्यादाको स्वीकार करना पड़ेगा—

> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ ( ३.१६ )

इसमें 'एवं प्रवर्तितं चक्रं'का तात्पर्य है कि यज्ञका चक्र चल रहा है। जैसे रथके चक्र ( =पहिये )में अरे लगते हैं, वैसे ही हमारे जीवनके रथको चलानेके लिए छह अरे हैं। जो इनका

अनुवर्तन नहीं करता वह अघायु होता है—**अघायुरिन्द्रियारामो मोघम्**। यदि हम यज्ञका परित्याग कर दें, पृथिवीके समान सबको धारण न करें, जलके समान सबको तृप्ति न दें, सूर्य-चन्द्रमाके समान सबको प्रकाश और आह्लाद न दें, वायुके समान सबको प्राण न दें, आकाशके समान सबको अवकाश न दें; तात्पर्य यह कि यदि हमारा पाञ्चभौतिक जीवन, पञ्चभूतकी प्रकृतिके अनुसार न हो तो हम अघायु हो जायँगे, पाप करने लग जायँगे। 'अघ' शब्दका संस्कृत भाषामें अर्थ है कि जिसका फल अवश्य भोगना पड़े—**न हन्यते भोगं विना इति अघः**। पाप और पुण्यमें-से पुण्यका फल बिना भोगे भी चल सकता है। यदि आप अच्छा काम करें और सरकार आपको पुरस्कार दे तो आप अस्वीकार कर सकते हैं। कह सकते हैं कि इस पुरस्कारको देशके किसी अच्छे और आवश्यक काममें लगा दिया जाये। परन्तु यदि आप कोई गलत काम करें, आपको जुर्माना हो, सजा हो और कहें कि इसको हम नहीं भोगना चाहते तो उससे छुट्टी नहीं मिलेगी। 'अघ' शब्दका अर्थ ही यह है कि आप इसको भोगनेसे अस्वीकार नहीं कर सकते। अगर आप बुरा काम करेंगे तो उसका फल आपको भोगना ही पड़ेगा।

अच्छा; अब आप देखिये आपका जीवन कैसा व्यतीत हो रहा है? मनुष्यके जीवनमें अनजाने ही हिंसाका प्रवेश होता है। मैंने एक दिन सुनाया था कि भूल या बुराई सिखायी नहीं जाती वह अपने आप आ जाती है। जन्म-जन्मकी भूल हमारी ज्ञान-रश्मियोंको प्रकट होनेमें बाधा डाल रही है। पातञ्जल-योगदर्शनके अपरिग्रह-निरूपण प्रसंगमें व्यासजी महाराज कहते हैं—

**नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति।** ( २.१५ भाष्य )

अर्थात् कोई दूसरोंको तकलीफ पहुँचाये बिना, दूसरोंकी

हिंसा किये बिना अधिक भोग कर ही नहीं सकता। प्राणियोंको कष्ट पहुँचाये बिना कोई भोगी हो नहीं सकता। जो भोगी होगा वह कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाता होगा। आप जितना अधिक भोग करेंगे उसमें आपका राग उतना ही अधिक बढ़ेगा और आप भोग करनेमें भाँति-भाँतिके कौशल बढ़ानेमें लग जायेंगे। तब आप स्वयं सोचिये कि आपका जीवन कितना हिंसापूर्ण, कितना दुःखदायी और कितना अघायु हो जायेगा? 'अघ'की परिभाषा पहले भी बतायी जा चुकी है, वह बहुत सीधी है। जिससे आपकी और अन्यकी उन्नति-प्रगतिमें बाधा पड़ती हो वह अघ है। पतनीय कर्मका नाम पाप है और जिससे हमारा सर्वतोमुखी अभ्युदय हो, हम ऊपर उठें, आगे बढ़ें, उसका नाम पुण्य है। पुण्य हमारे हृदयको शुद्ध करता है। पुण्यका अर्थ है यज्ञ और यज्ञका अर्थ है आपको जो सामग्री प्राप्त है वह सबके हितमें प्रयुक्त हो—सबकी भलाईके काममें लगे। एक मन्त्र है, जिसका अर्थ यह है कि यह यज्ञ सूर्य कर रहे हैं, चन्द्रमा कर रहे हैं, पृथिवी कर रही है और वायु कर रहा है।

इस मन्त्रमें हम प्रार्थना करते हैं कि 'हे वायु देवता! हमारे लिए औषध लेकर आना। हे यज्ञ देवता! हमारे लिए कल्याण-कारी होना।'

प्रकृतिके इन तत्त्वों द्वारा जो यज्ञ हो रहा है वह हमारे जीवनमें भी प्रकट होना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो दूसरोंको कष्ट पहुँचायेंगे। हम अपनी इन्द्रियोंमें ही रमण करने लग जायेंगे: जो इन्द्रियाँ देखनेके लिए, चलनेके लिए, काम करनेके लिए, दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिए बनी हैं, वे अपने कर्तव्यसे विमुख होकर स्वार्थ-परायण हो जायेंगी। तब हमारे जीवनकी स्थिति क्या होगी? गीता कहती है कि वह एक तो अघायु, दूसरे

इन्द्रियाराम और तीसरे बिलकुल व्यर्थ हो जायेगा—**मोघं पार्थ स जीवति।**

अब आपको यह बात बताते हैं कि कर्तव्यके ये सब भार उन लोगोंपर हैं जिनको अन्तर या बाह्य किसी भी दिशामें उन्नति करनी हो। परन्तु जिन लोगोंने आत्मदेवका साक्षात्कार कर लिया है, उनकी स्थिति दूसरी हो जाती है। उनके कर्म तो हैं, किन्तु कर्तव्यका बोध नहीं। कर्म करना दूसरी बात है और कर्तव्य-पालनकी अनिवार्यता रहना दूसरी बात है। संसारके साधारण लोगोंको अपने-अपने कर्तव्यके पालनकी अनिवार्यता है—नहीं करेंगे तो अघायु, इन्द्रियाराम और मोघ जीवन—व्यर्थ जीवन हो जायेंगे।

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
**आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (३.१७)**
**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।**
**न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ (३.१८)**
**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।**

भगवान्ने कहा कि उन महात्माओंको कर्तव्यके बन्धनसे मुक्त कर दो, जिनका रमण, जिनकी तृप्ति और तुष्टि-पुष्टि अपने आपमें है। यहाँ कर्मका निषेध नहीं, कर्तव्यका निषेध है। कर्मके साथ कार्यम्‌का विशेषण है (३.१९ श्लोकमें)। कर्म दोनों हो सकता है, कार्य भी और अकार्य भी, जैसे गृहस्थ दम्पतीका रमण परस्पर होता है, वैसे ही आत्मज्ञानीका रमण स्वयंमें होता है। जो सुख-स्वाद पति-पत्नीको परस्परके समागममें है, वही आनन्द आत्म-ज्ञानीको अकेले अपने-आप बैठनेमें है। उसका सुख काम-जन्य नहीं—अन्यसे जन्य नहीं, निरपेक्ष है, अपने आपमें है—

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**

अच्छे-अच्छे सुस्वादु भोजनसे, अन्न-रसादिसे भी तृप्ति होती है। भर पेट भोजनके बाद डकार आती है। भीतरसे जो उद्गार आता है उसको डकार बोलते हैं। वैसे आजका सिद्धान्त यह है कि यदि डकार या उद्गार आये तो समझना चाहिए कि भोजन आवश्यकतासे कुछ अधिक हो गया है। इसलिए भूखसे कुछ कम ही भोजन करना चाहिए। भोजनका भी एक ढंग होता है। उसमें ऐसी सुगन्ध होनी चाहिए कि जब वह नाकमें घुसे तो क्षुधा, बुभुक्षा जाग्रत् हो जाये। जब उसको आँखसे देखें तो वह मन्त्र बन जाये। जब वह जीभपर जाये तो आत्मानन्द, ईश्वरीय आनन्दको जाग्रत् करे। जब वह शरीरके भीतर जाये तो एक-एक नसको, एक-एक नाड़ीको, एक-एक कणको हितसे भर दे। भोजनमें चाहिए चार बातें—सौरभ्य, सौरस्य, सौरूप्य और सौहित्य। भोजनमें यह विवेक भी होना चाहिए कि अमुक वस्तु भोजन करने योग्य है कि नहीं। इसी प्रकार वह किस बर्तनमें रखा गया है, किसमें बनाया गया है, हमारे शरीरके अनुकूल है कि नहीं। हमारा भोजन जाति-दोष, आश्रय-दोष और निमित्त-दोषसे रहित तथा न्यायोपार्जित होना चाहिए। हमारे शास्त्रोंमें पवित्रताके जितने नियम हैं उनमें धनकी पवित्रता सबसे बड़ी मानी गयी है। तो, धन पवित्र होना चाहिए। जो मिट्टीसे, पानीसे पवित्रता प्राप्त करता है वह सच्ची नहीं, उधार ली हुई पवित्रता है—

**सर्वेषामेव शौचानाम् अर्थशौचं परं स्मृतम्।**
**योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥**

(मनुस्मृति ५.१०६)

पवित्र धन वह होता है जो किसीको दुःख पहुँचाये बिना किसीका हक छीने बिना अपने घरमें आता है।

तृप्तिके लिए बहिर्मुख व्यक्तियोंको चाहिए बाहरकी वस्तु।

किन्तु जो अन्तर्मुख हैं—अपने स्वरूपमें स्थित हैं, उन्हें तृप्ति भीतरसे मिलती है। अपने हककी रूखो रोटी खाकर मनमें जिस तृप्तिका उदय होता है और उससे जो पवित्रता अन्तःकरणमें आती है वह बाहरसे उधार ली हुई नहीं होती। अन्न-रससे तृप्ति होती है प्रेयससे रति होती है और धन आदि प्राप्त होनेसे तुष्टि होती है। इन तीनोंमें जहाँ हम पराधीन होते हैं वहाँ संसार होता है और जहाँ स्वाधीन—समष्टि भावापन्न होते हैं वहाँ आत्मतृप्ति, आत्मरति अथवा आत्मतुष्टिकी प्राप्ति होती है। आप अपने मनको टटोलिये और देखिये कि आपको प्रसन्नता कब होती है—संसारका भोग करते समय या त्याग करते समय ? धन मिलनेपर आपको जो सुख होता है वह बहुत बढ़िया है और हम उसका आदर करते हैं, परन्तु जब वही धन किसीको देना पड़ता है तब आपको कैसा लगता है ? उस समय सुख होता है कि नहीं ? जितना सुख धन प्राप्त करनेमें होना चाहिए उतना ही सुख दूसरेको देनेमें भी होना चाहिए। क्योंकि आप जब किसीको देते हैं तो उसे भी सुख प्राप्त होता है। सच्चा सुख वही है जो दूसरोंको सुखी करके होता है—

**आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते। (३.१७)**

जो संसारसे कुछ लेकर सुखी होता है, उसको संसारके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करके सुखी होना चाहिए। किन्तु जो अपने आपसे सुखी होता है उसके ऊपर कर्तव्यका कोई भार नहीं, क्योंकि वह स्वार्थरहित है।

**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।**
**न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ (३.१८)**

वह करे तो भी ठीक, न करे तो भी ठीक। यह समतामें, समत्वमें स्थित होता है। उसकी स्थिति सर्वोपरि होती है।

उसका किसीके साथ कोई स्वार्थ या लगाव नहीं होता। इसलिए यदि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाये तो अति उत्तम, अन्यथा—

**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार। ( ३. १९ )**

अनासक्त भावसे अपने कर्तव्यका पालन करते जाना चाहिए। कर्म-फलकी प्राप्ति अथवा कर्मकी पूर्तिमें किसी प्रकारका आग्रह न होना चाहिए। तुम्हें जितना समय मिला है, जितनी शक्ति मिली है और तुम जितना कर सकते हो उतना करते चलो। कभी-कभी ऐसी आसक्ति हो जाती है कि हम इसको पूरा करके तथा इसका फल प्राप्त करके ही छोड़ेंगे। तब हमारे द्वारा अन्याय होने लगता है। कर्तामें आग्रह, अकर्तामें आग्रह, कर्ममें आग्रह, फलमें आग्रह— ये चारों मनुष्यको बन्धनमें डालनेवाले हैं। इसलिए अनासक्त चित्तसे कर्त्तव्यका पालन करना चाहिए।

हमने सुना था—बनारसमें एक सेवामुक्त सैनिक रहते थे। एक दिन वे बाजारसे दही खरीदकर हाथमें कुल्हड़ लिये अपने निवास-स्थानकी ओर चले जा रहे थे। किसी विद्यार्थीको शरारत सूझी। उसने उनके पीछेसे बड़े जोरसे अटेन्शन बोल दिया। सेवा-मुक्त सैनिकने तत्काल दही फेंक दी और तनकर खड़े हो गये।

मनुष्यका जीवन ईश्वरीय सैनिकके समान होना चाहिए। यदि कोई मालिक अपने मुनीमसे कहे कि यह दुकान छोड़कर दूसरी दुकानमें जाओ परन्तु मुनीम जाना न चाहे तो इसका कारण यही हो सकता है कि उसका कोई-न-कोई स्वार्थ इस दुकानमें अटका होगा। काम तो मालिकका ही करना है, वह जहाँ चाहे भेजे और जो चाहे कराये। आपने सुना होगा; सिक्खों-के दस गुरुओंमें-से एक गुरु ऐसे थे जिनका एक शिष्य था और दूसरा एक पुत्र था। दोनों बड़े योग्य थे। उन्होंने दोनोंसे एक-चबूतरा बनानेके लिए कहा। दोनोंने एक-एक चबूतरा बनाया।

गुरुजीने कहा कि ये ठीक नहीं बने, इनको तोड़ दो और दूसरे चबूतरे वनाओ। दूसरे चबूतरे बने तो उन्होंने वे तुड़वा दिये। इसी प्रकार कई चबूतरे बनवाये तोड़वाये ! इसपर गुरुजीके पुत्रने कहा कि आपकी पसन्दका चबूतरा तो कभी बननेवाला नहीं, इसलिए मैं यह काम छोड़ देता हूँ। परन्तु शिष्यने कहा कि महाराज मुझे तो जिन्दगी भर आपकी आज्ञाके अनुसार ही काम करना है। आप प्रतिदिन चबूतरा बनवायेंगे तो मैं बनाता जाऊँगा और तुड़वायेंगे तो तोड़ता जाऊँगा। अन्तमें गुरुजीने अपनी गद्दीका उत्तराधिकारी शिष्यको बनाया, पुत्रको नहीं।

हमलोगोंका कर्तव्य कर्म—कार्यक्रम यही होना चाहिए कि जहाँ भगवान् लगायें वहाँ लग जायें, जो छुड़ायें उसे छोड़ दें। जिसे बदलें उसे बदल दें, वे चुप कर दें तो चुप हो जायें। कहीं भी किसी भी परिस्थितिमें कोई आसक्ति न हो। **कार्यं कर्म समाचार।**

**असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।** (३.१९)

मनुष्य जब अनासक्त होकर काम करता है तब उसको परम सत्यकी उपलब्धि होती। परम सत्य क्या है ? पहले हमलोग परम सत्यकी माँग करनेवालोंको उसकी प्राप्तिका प्रलोभन देकर मर्यादित जीवन प्रारम्भ करनेका परामर्श देते थे। अब तो कोई कहे कि अमुक काम करनेपर स्वर्गकी प्राप्ति होगी तो उत्तर मिलेगा कि हमको स्वर्ग चाहिए ही नहीं फिर हम यह काम क्यों करें ! यदि मनुष्यके मनमें स्वर्गकी माँग हो तभी हम उनके मिलनेकी बात कहकर उससे यह काम करा सकते हैं। देखनेकी बात यह है कि हमलोग अपने जीवनमें परमेश्वरको कितना चाहते हैं। यदि हमारी चाह नहीं होगी तो परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए जो साधन बताये जायेंगे उनको कोई क्यों करेगा ? आजकल तो लोग पद,

प्रतिष्ठा और धन-वैभवको ही अधिक महत्त्व देते हैं; इसलिए साधु-सन्तोंके पास भी वही चाह लेकर जाते हैं। जिस वस्तुकी अभिलाषा होती है उसीकी प्राप्तिके साधनमें मनुष्य प्रवृत्त होता है। इसलिए हमारे मनमें परमेश्वरकी कामना होगी तभी हम उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करेंगे। भगवान् श्रीकृष्णने एक बड़ी बढ़िया बात कही है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥ (३.२०)

लोक-संग्रहका अर्थ है कि देशमें, विश्वमें सब तरहके लोग रहते हैं। सब मानव एक स्तरके हों, ऐसा कभी नहीं हो सकता। संसारमें पापी भी रहेंगे, पुण्यात्मा भी रहेंगे, मूर्ख भी रहेंगे, विद्वान् भी रहेंगे। दुरात्मा भी रहेंगे, महात्मा भी रहेंगे। अतः लोक-संग्रहके लिए जब आप कोई काम करें तो केवल एक वर्गका भला न चाहें, बल्कि सबके हितमें सोचें। सबका संग्रह करना अर्थात् सबको अपना समझकर सम्यक् ग्रहण करना ही लोक-संग्रह है। भगवान् जो काम करते हैं, सबकी भलाईके लिए करते हैं। बाइबिलमें एक वचन आता है कि गड़ेरिया अपनी भेड़ोंकी देख भाल खासकर उस समय करता है जब भेड़ें भटकने लगती हैं। ईश्वर भी सब जीवोंका ध्यान रखता है। परन्तु विशेष ध्यान उन लोगोंका रखता है जो रास्तेसे भटक जाते हैं। एक सेठजीका नियम था कि वे प्रतिदिन एक महात्माको भोजन कराकर तब स्वयं भोजन करते थे। एक दिन समयपर कोई महात्मा नहीं मिला। एक बज गया, दो-तीन बज गये। अन्तमें एक सुन्दर, स्वस्थ, वयोवृद्ध विद्वान्को बुलाया गया। सेठजी उनके लिए भोजनकी व्यवस्था करनेका आदेश देकर बात करने लगे। भोज्य सामग्री आनेपर उस महात्माने ईश्वरको समर्पित किये बिना ही

भोजन प्रारम्भ कर दिया। इसपर सेठजीने आपत्ति की, तो बोले कि मैं तो ईश्वरको मानता ही नहीं, फिर सर्मपित किसको करूँ ? अब सेठजी बहुत बिगड़े और कहा कि मैंने क्या पाप किया था कि आप जैसे नास्तिक मेरे घर भोजन करने आगये ? महात्माने कहा कि मैं भी ऐसे लोगोंके घर भोजन नहीं करता जो प्रेमसे न खिलायें। इसलिए कहो तो मैं उठ जाऊँ ? सेठजीने कहा कि 'उठ जाओ' और महात्मा उठकर चले गये। रातमें सेठजीको ईश्वरका दर्शन हुआ और वे बोले कि 'सेठ! तुम तो मेरे बड़े भक्त हो। जो साधु तुम्हारे घर आया था, उसकी उम्र कितनी थी ?' सेठजीने कहा—'सत्तर वर्षकी होगी।' ईश्वरने कहा कि अरे भाई, मैंने उसको सत्तर वर्ष तक भोजन देकर पाला-पोसा और तुम मेरे भक्त होकर उसको एक समय भी भोजन नहीं दे सके ? कैसे हो मेरे भक्त ? परीक्षा लेकर भोजन देते हो ? मैं स्वयं उसके रूपमें आया था। इस कहानीका सारांश यह है कि जब स्वयं ईश्वर ही भोजन करने गया था तब वह किस ईश्वरको भोग लगाता ? सबसे बड़ा नास्तिक तो ईश्वर ही होता है, क्योंकि वह यदि अपनेसे बड़ा कोई दूसरा ईश्वर मानेगा तो वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर रहेगा ही नहीं। अतः ईश्वरके नास्तिक्यको प्रकट करनेके लिए ही अवतारका अवतरण होता है। वह अपनेसे अतिरिक्त किसी अन्यको ईश्वर नहीं मानता। बुद्ध भी ईश्वर ही हैं। उनमें भी ईश्वरताका एक रूप प्रकट है और इसलिए वे दूसरे ईश्वरको नहीं मानते।

एक हँसीकी छोटी-सी बात और सुन लीजिये। एक महात्मा थे। वे अपने नामके साथ लोक-संग्रही शब्द लगाते थे। किसीने यह चर्चा चलायी कि ये क्या लोक-संग्रह करते हैं ? हमारे एक मित्रने उत्तर दिया कि लोक-संग्रह शब्दका अर्थ तुम लोगोंको मालूम ही नहीं। उसकी व्युत्पत्ति यह है कि **लोकेभ्यो द्रव्यसंग्रहः**

लोकसंग्रहः अर्थात् लोगोंसे चन्दा करनेका नाम लोक-संग्रह है। अब इस कसौटीपर कसकर देखो कि लोक-संग्रही बाबा खरे हैं कि नहीं? वे बिलकुल खरे हैं; इतने खरे हैं कि वे बड़े-बड़े कंजूसोंसे भी उनकी तारीफ करके चन्दा ले लेते हैं—

लोगसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि। (३.२०)

सबका भला हो इस दृष्टिसे ही काम करना चाहिए। दो प्रकारके लोग होते हैं—एक अनुकरणप्रिय और दूसरे स्वाभाविक। बच्चोंका स्वभाव अनुकरणप्रिय होता है। हम रोज देखते हैं कि गृहस्थ लोग अपने बच्चोंको लेकर आते हैं और उनसे कहते हैं कि स्वामीजीको प्रणाम करो। जब वह नहीं करता तब वे स्वयं प्रणाम करके दिखाते हैं और फिर वे बच्चे स्वयं दौड़कर प्रणाम करने लगते हैं। बच्चोंको उपदेशकी जरूरत नहीं होती। जो ज्ञान आपने बीस वर्षमें प्राप्त किया है उसे चार-पाँच वर्षका बच्चा कैसे सीख लेगा? उसे डाँटना या अपमानित नहीं करना चाहिए। उस बालकके रूपमें आपके घर कोई बहुत बड़ा देवता आया है। राम आये हैं, कृष्ण आये हैं, गांधी आये हैं, तिलक आये हैं, गोखले आये हैं। कोई बहुत बड़े महात्मा आये हैं। आप उसके अनुकरणके लिए कोई आदर्श रखिये। जो काम आप करेंगे, वह आपका बालक भी करेगा।

लोकसंग्रहके प्रसङ्गमें, स्वयं भगवान्ने कहा कि यदि मैं कर्म नहीं करूँ तो सारा संसार उजड़ जाये। कर्मके सम्बन्धमें एक होता है आदर्श और दूसरा होता है प्रमाण। श्रेष्ठ पुरुषके कर्म अनुकरण करने योग्य होते हैं और वह जिस वस्तुको प्रमाण मानता है, दूसरे लोग भी उसे प्रमाण मानने लगते हैं। प्रमाण होता है मनके लिए, बुद्धिके लिए और कर्म होता है शरीरके लिए, इन्द्रियोंके लिए। बड़े-बूढ़ोंके मार्ग-दर्शनके अनुसार शरीरसे कर्म करें और

किस बातको प्रमाणित मानकर हमें आगे बढ़ना चाहिए, इसके लिए बुद्धिमानोंसे प्रेरणा ग्रहण करें। हमें बड़ोंसे ही विश्वास प्राप्त होता है और हम अनुकरण भी बड़ोंका ही करते हैं। अतः यदि श्रेष्ठ पुरुष अच्छा कर्म नहीं करेंगे और अच्छी मान्यताओंका, अच्छी प्रामाणिकताका स्थापन नहीं करेंगे तो यह लोक अन्धकारमें पड़कर नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ (३.२४)

बम्बईमें एक परिवार है। उसमें एक छोटा-सा बच्चा बीमार था। डाक्टरने उसको आराम और चावल खिलानेसे मना किया। अब घरके दूसरे सब लोग तो आम, चावल खायें किन्तु बच्चेको न दें। एक रात उन लोगोंने देखा कि उनका वह बच्चा, जो कमजोरीके कारण चल-फिर नहीं सकता था, वह खाटपरसे उतरकर घिसटते-घिसटते बर्तन माजनेकी जगहपर पहुँचा हुआ है और जूठे चावलके दानोंको बीन-बीनकर खा रहा है। आमके छिलकोंको चाट रहा है। फिर तो घरवालोंको बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जबतक बालक अच्छा नहीं हो जायेगा तबतक वे घरमें आम, चावल नहीं खायेंगे। इसीका नाम लोक-संग्रह है। आप केवल अपने हितपर ही दृष्टि न रखें। इस संसारमें आपके बच्चे भी हैं, वे लोग भी हैं जिसका मस्तिष्क ठीक काम नहीं करता। अतः आपको ऐसा काम करना चाहिए जिससे सबकी भलाई हो।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने यह कहा कि राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रकृतिके जो गुण हैं वे स्वयं कर्मोंकी सृष्टि करते रहते हैं। इसको ऐसे समझिये—मानों एक दिन अंगूरने करेलेसे कहा कि तू बहुत कड़वा है, निकम्मा है, संसारमें लोगोंका

स्वाद बिगाड़नेके लिए पैदा हुआ है। इसपर करेलेने उत्तर दिया कि यह सब तो ठीक है, पर तुम भी तो लोगोंको डायबिटिज देनेके लिए पैदा हुए हो। इसके विपरीत मैं डायबिटिज अच्छा करता हूँ। और भी अनेक रोगोंका निवारण मुझसे होता रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि करेलेकी कड़वी प्रकृति भी गुणोंके अनुसार है और अंगूरकी मधुर प्रकृति भी गुणोंके अनुसार है—

> प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
> अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥( ३.२७ )
>
> तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
> गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥( ३.२८ )

सृष्टिमें सबकी आवश्यकता होती है। आप किसीको भी अनावश्यक समझकर तिरस्कार न करें। सब-के-सब अपने-अपने गुणोंके अनुसार बर्तते हैं—वर्ताव करते हैं। मैंने अखबारमें पढ़ा था कि केरल सरकारने मेढकोंका इतना अधिक निर्यात कर दिया कि वहाँ मेढकोंकी कमी हो गयी। इसका नतीजा यह हुआ कि जिन कीड़ोंको वे खा जाया करते थे, वे बढ़ गये और उनसे धानकी फसल खराब हो गयी। संसारमें मेढकोंकी भी आवश्यकता होती है। ये जो विच्छू, साँप, मच्छर आदि विषैले जीव हैं उनकी भी आवश्यकता इसलिए है कि वे वातावरणके विषका संग्रह करके हमें निर्दोष अन्न, निर्दोष पृथिवी और निर्दोष जल प्रदान करते हैं। जब उनका नाश हो जाता है तब धरतीपर कोई-न-कोई रोग बढ़ जाता है। इसलिए संसारमें जितने भी मनुष्य अथवा पशु-पक्षी और कीट-पतंग हैं सबमें प्रकृतिके किसी-न-किसी गुणका विकास हुआ है। कहीं तमोगुण है, कहीं रजोगुण है, कहीं सत्त्वगुण है। सब एक दूसरेसे सम्बन्धित होते हैं—चमकते हैं। इसलिए प्रकृतिके गुणोंको लेकर अहंकार नहीं करना चाहिए—

**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। ( ३.२७ )**

'विमूढ़' शब्द आयुर्वेदमें इस ढंगसे व्यवहृत होता है कि बच्चा माँके पेटमें गर्भ-विमूढ़ हो गया। उसको मूढ़गर्भा भी बोलते हैं। अर्थात् बच्चेको गर्भमें किधर जाना चाहिए, किधर खिसकना चाहिए, यह मालूम नहीं। तो अहंकारविमूढात्माका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यकी आत्मा उसके अहंकारमें अटक गयी, भटक गयी, लटक गयी। अहंकारका यह स्वभाव है कि जहाँ-जहाँ उसको पुष्टि मिलती है, वहाँ-वहाँ हमें ले जाता है। श्रीकृष्णके मतमें अपने भीतर कर्तापनका जो आरोप है—हमने यह किया, हमने वह किया उससे एक दृष्टि मनमें बन जाती है और उससे हम बँध जाते हैं। उस घेरेसे बाहर निकलना ही नहीं चाहते। अतः भगवान् कहते हैं कि कैसे भी हो इस गढ्ढेसे निकलो। यह बात एक तरहसे नहीं, दस-बीस तरहसे समझायी गयी है कि मैंने ऐसा किया, मैंने वैसा कियाका अभिमान छोड़ो। उदाहरणके लिए आप देखिये। एक जगह कहते हैं कि प्रकृति ही सबकुछ करती है—

**प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। ( १३.२९ )**

यहाँ कहते हैं सबकुछ प्रकृतिके गुण करते हैं—

**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। ( ३.२७ )**

एक जगह कहते हैं कि जैसी आपकी आदत बन जाती है, स्वभाव बन जाता है वैसा होता रहता है—

**स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।**
**कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ( १८.६० )**

एक जगह आया है कि—

**अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।**
**विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ ( १८.१४ )**

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ (१८.१५)

आप अपनेको पाँच जनोंके किये हुए कामका कर्ता मान बैठते हैं और दिखाते हैं कि हमने किया है। ऐसी स्थितिमें पंचायतके कामको अपना व्यक्तिगत बनानेपर दोष लगेगा और आप दोषी हो जायेंगे। जरा सोचिये तो सही यदि आपको धरती खड़ा होनेकी जगह न दे, हवा साँस न लेने दे और सूर्य रोशनी न दे तो आप कोई काम कैसे कर सकेंगे? इसके अतिरिक्त देवता भी आपकी मदद करते हैं—

**दैवं चैवात्र पञ्चमम्** आपको शरीर मिला हुआ है, आपमें कर्तृत्वका भाव जागृत है, आपकी इन्द्रियाँ ठीक-ठीक हैं, तब कहीं जाकर कोई कार्य सम्पन्न होता है। यदि ईश्वरीय बुद्धि आपकी बुद्धिको थोड़ा सहयोग न दे तो वह क्या काम कर सकेगी? हम लोग अच्छे कामोंका श्रेय तो लेते हैं; किन्तु बुरे कामोंको भरसक जाहिर ही नहीं होने देते। यदि वह जाहिर हो भी जाये तो कहते हैं कि हमने नहीं किया। एक राजाका बाण शिकारके समय गायको लग गया और वह मर गयी। गोहत्याने कहा राजन्, हमें स्वीकार करो। राजाने उत्तर दिया कि बाणसे गाय मरी है, उसको लगो। बाणने भी मना कर दिया और कहा कि हाथने मारा है। हाथने कहा हमारा देवता इन्द्र है, उसीने मारा है। इन्द्रने उत्तर दिया कि विष्णु सर्वत्र व्याप्त है, अतः हत्याका उत्तर-दायित्व उनपर है, उन्हींके पास जाओ। तब गोहत्या भगवान् विष्णुके पास गयी और वे राजाके पास आये। उन्होंने पूछा 'राजा यह महल किसने बनवाया?' राजाने कहा 'मैंने।' इसी प्रकार भग-वान् विष्णु मन्दिर, धर्मशाला, उद्यान आदिके निर्माताके सम्बन्धमें पूछते गये और राजा 'मैं-मैं' कहते गये। इसपर भगवान्ने कहा कि क्यों राजा अच्छे-अच्छे काम तो सब तुमने किये हैं किन्तु गोहत्या

मैंने की है ? स्वीकार करो गोहत्याको। अभिमानकी जो यह रीति है वह सर्वथा अशुद्ध है। अतः हम-हमाराका अभिमान छोड़कर ही मनुष्यको कर्म करना चाहिए।

अब प्रसंग आता है राग-द्वेषका। मनुष्यके जीवनमें जो राग-द्वेष हैं, वे ही उसे गलत रास्तेपर ले जाते हैं। रागके कारण हम भटक जाते हैं और द्वेषके कारण फँस जाते हैं। सटते हैं रागसे और हटते हैं द्वेषसे—

**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।**
**तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥** ( ३.३४ )

तो आप काम भले कीजिये लेकिन यह ध्यान रखिये कि राग-द्वेषके वशीभूत न हों। इसी प्रसंगमें एक प्रश्न उठा कि आखिर मनुष्य बुरा काम करता क्यों है ? कभी-कभी तो वह चाहता है कि बुरा काम न करे, फिर भी कर बैठता है। इसमें हेतु क्या है ? गीतामें यह एक विशेष प्रसङ्ग है, इसकी चर्चा आगे करेंगे।

•

## प्रवचन–७

( २२-११-'७४ )

गीताके तीसरे अध्यायमें कर्मकी चर्चा चली। उसमें मुख्य प्रश्न उपस्थित हुआ कि कर्म कैसे होते हैं ? और कर्म किस प्रकार करने चाहिए ? भगवान्ने समाधान करते हुए कहा :

**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।**
**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥** ( ३.३० )

इसमें कर्मानुष्ठानका सार-सार आ जाता है। प्रकृतिसे कर्म होते हैं, प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं, पंचायतकी प्रेरणासे कर्म होते हैं, अहंकारसे कर्म होते हैं, ईश्वरकी प्रेरणासे कर्म होते हैं—इन अनेक मतोंका संग्रह गीतामें है। कर्मशास्त्रका तो कोष ही है गीता।

भगवान्ने कर्मानुष्ठानका जो सबसे महत्त्वपूर्ण मार्ग बताया, वह यह है कि मुझमें सब कर्मोंका संन्यास कर दो। यहाँ संन्यास-शब्द सम्प्रदायविशेषका वाचक नहीं, सं = सम्यक्, न्यास = स्थापन, सम्यक् माने भलीभाँति और स्थापन माने पूर्णरूपसे निक्षेप। अर्थात् कर्मोंका सम्पूर्णरूपसे पूरा-का-पूरा भार भगवान्के ऊपर डाल दो क्योंकि वे प्रेरक हैं, निर्वाहक हैं और फलदाता हैं। यह समर्पण कैसे होगा ? संसारमें जैसे गोदान, भूदान होता है वैसे नहीं होगा। **संन्यस्याध्यात्मचेतसा**—अपने शरीरके भीतर जो क्रिया-प्रक्रिया हो रही है, उसका नाम है अध्यात्म। अतः भीतर दृष्टि ले जाओ और देखो कि इस यन्त्रका संचालन कैसे हो रहा है।

एक बारकी बात है, मैंने किसी महात्मासे कहा कि मैं कर्म करनेमें स्वतन्त्र हूँ। उन्होंने कहा कि अच्छा; बताओ तुम अगले क्षणमें क्या करोगे? मैंने कहा कि जो चाहूँगा करूँगा। बोले कि ठीक है, यही बताओ क्या चाहोगे? मैं चुप हो गया। मनुष्य अगले क्षण कैसी इच्छा करेगा, क्या करेगा इसका ज्ञान नारायणके सिवाय और किसीको नहीं हो सकता। यदि हम इच्छा नहीं करेंगे तो कर्ममें स्वातन्त्र्यका प्रश्न ही नहीं उठता। हमारे जीवनमें जो प्रवृत्तियाँ हैं वे केवल ज्ञानकी किरणोंसे हो रही हैं, रसकी किरणोंसे हो रही हैं अथवा केवल सत्तामें आकृतियाँ बन रही हैं। सत्तामें आकार बनते हैं, ज्ञानमें प्रवृत्तियाँ होती हैं और रसमें तरंग उठती है। इस प्रकार पृथिवीका काम हो रहा हैं। इसमें ज्यादा कौन करता है, अपना कर्त्तापन और रागद्वेष—

**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। ( ३.२७ )**

विवेकका मार्ग क्या है? हम अपने यन्त्र-संचालनकी प्रक्रियाको ठीक-ठीक समझकर राग-द्वेषके अधीन न होने दें सबका भार समष्टिके अन्तर्यामी परमेश्वरपर छोड़ दें। सैनिक कार्य कर रहे हैं, फलकी आशा नहीं, कर्ममें ममत्व नहीं और होने-न-होनेका ज्वर भी नहीं।

**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः। ( ३.३० )**

अर्जुनकी दशा विपरीत थी। उन्हें ज्वर चढ़ आया था—

**सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।**
**वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ (१.२९)**

उनका शरीर तप रहा था, मुख सूख रहा था, चमड़ा जल रहा था, भगवान्‌ने कहा—विगतज्वरः—अब इस बुखारको उतारकर फेंक दो, ज्वरसे रहित हो जाओ, हृदयमें जलन मत होने दो, आशा-ममता छोड़ दो, और समस्त कर्मोंका भार मुझपर

डाल दो—यही विवेकका मार्ग है। यही बात जब भक्तिमार्गकी रीतिसे कही जाती है तब इसकी प्रक्रिया दूसरी हो जाती है—

**ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।**
**अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥**
**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।**
**भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥** (१२.६-७)

'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य'—ज्ञानमार्गमें भी है और भक्ति-मार्गमें भी। भक्तिमार्गकी विशेषता क्या है? भगवान्‌के प्रति परायणता, अनन्यता, उनका ध्यान और उनकी उपासना—**मत्पराः अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते** इसका परिणाम क्या होता है—भगवान् भवसागरसे पार कर देते हैं—**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु-संसारसागरात्** कोई जीव भवसागरमें डूब रहा है, भगवान् स्वयं आये, उसे भवसागरमें-से निकाला, अपनी नावपर बैठाया और पतवार चलाने लगे। जीवने कहा मैं भी पतवार चलाकर देखूँ? भगवान् बोले—नहीं, तुम चुपचाप बैठो, मेरी रूप-माधुरीका आस्वादन करो, इसे निहारो, नाव खेनेवाला तो मैं हूँ। यह कहकर वह साँवरा किशोर नाव चलाने लगा और जीव निश्चिन्त हो गया। यही भक्ति है।

**ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।** ( १२.६ )

गीताके तीसरे अध्यायमें विवेक है, ज्ञान है, और बारहवें अध्यायमें भक्ति है। ये दोनों कर्म करनेके दो मार्ग हैं एक तो **संन्यस्याध्यात्मचेतसा** और दूसरा **निराशीर्निर्ममो भूत्वा**।

कर्ममें ममत्व मत रखो। यह देखो कि तुम अपना काम अपने लिए करते हो या देशके लिए करते हो? तुम कपड़ा पैदा करते हो सिर्फ इसलिए कि तुम्हें पैसा मिले अथवा इसलिए कि जो नङ्गे हैं, जिनको ठण्ड लगती है उनको कपड़ा मिले? यह केवल माननेकी

ही बात है कि मनुष्य केवल अपने लिए ही पैदा करता है, क्योंकि वह उत्पन्न होकर सबके काम आता है। अपनी दृष्टिको संकीर्ण मत बनाओ। यह मत कहो कि मैं केवल अपने लिए वस्त्र उत्पादन करता हूँ बल्कि यह कहो कि मैं सबको भलाईके लिए वस्त्र उत्पादन करता हूँ। इससे भी आगे बढ़कर यह मानो कि सर्वके रूपमें जो परमेश्वर है उसकी सेवा करनेके लिए, उसका शृङ्गार करनेके लिए, वस्त्रोत्पादन करता हूँ। परमेश्वरके शृङ्गारके लिए वस्त्र चाहिए, परमेश्वरको भोग लगानेके लिए अन्न चाहिए, परमेश्वरका मन्दिर बनानेके लिए लोहा चाहिए। सीमेण्ट चाहिए। यह तभी होगा जब तुम अपने उत्पादन कर्ममें-से ममता निकाल दोगे, निर्मम हो जाओगे। निर्ममका अर्थ यही है कि तुम अपने लिए काम नहीं कर रहे हो बल्कि सबके लिए कर रहे हो। यह विचार कोई कठिन नहीं, सच पूछो तो इसका निर्वाह होता चलता है—प्रतिदिन रोटी मिलती है, कपड़ा मिलता है। जो आज दे रहा है, वह आगे भी देगा। उसके लिए आशावान् होकर, फलकामी होकर हम अपने हृदयको मलिन क्यों बनायें ? अतः आशा छोड़ो, फलाकांक्षा छोड़ो, ममता छोड़ो, दुःख छोड़ो और अपना काम करते चलो।

अब विवेक और भक्तिके अतिरिक्त काम करनेका एक तीसरा मार्ग भी है, राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त। राग-द्वेष हमारी सत्ताको, हमारे ज्ञानको, हमारे रसको, हमारे आनन्दको दूषित करता है। हमारे सारे कार्यक्रम ज्ञानांशुसे होते हैं। ये जब पापविद्ध हो जाते हैं, तब रङ्गीन हो जाते हैं। जैसे सूर्यकी किरणें आती रहती हैं। बीचमें मिल जाता है पानी। फिर आकाशमें इन्द्रधनुष दिखाई देने लगता है। सूर्यकी किरणोंको रँगनेवाला कौन है ? जलकी बूँदोंमें-से जब सूर्यकी रश्मियाँ पार होती हैं तब वे लाल-पीली-हरी हो जाती हैं। अतः रश्मियाँ जलकी बूँदोंमें आसक्त नहीं होतीं परन्तु उनके सम्पर्कसे रङ्गीन दिखाई देने लगती हैं। आत्म-सूर्यकी

जो किरणें हमारे अन्तःकरणमें आती हैं वे बिलकुल ठीक-ठीक आती हैं—परमेश्वरसे आती हैं, परन्तु रागकी रक्तिमा तथा द्वेषकी कालिमा दोनों उसको काली और लाल बना देती हैं। निश्चय ही हमारे कर्मको रङ्गीन बनानेवाला हमारा राग-द्वेष है जिसमें हम फँस जाते हैं। बच्चे लोग लाल रङ्गमें बहुत फँसते हैं। बचपनमें मुझे लाल रङ्गके सिवा और कोई रङ्ग पसन्द ही नहीं आता था। रागमें ऐसी रङ्गीनी है कि इसको देखकर ज्ञानांशु मानव अपना सच्चा मार्ग छोड़ देता है। इसी प्रकार जीवनमें द्वेषका प्रवेश होनेपर, निर्दयता, क्रूरताका समावेश हो जाता है। उससे किसीकी हानि होगी इस बातपर ध्यान नहीं जाता। अतः कर्ममें पहले यह बताया कि यन्त्रका विवेक करो और देखो कि वह ठीक-ठीक काम करता है या नहीं। दूसरी बात यह बतायी कि केवल भगवान्‌से प्रेम करो और तीसरी बात यह बतायी कि राग-द्वेष छोड़ दो। दूसरे अध्यायमें—

**रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। ( २.६४ )**

कहा था, अब यहाँ यह कहते हैं कि—

**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। ( ३.३४ )**

तात्पर्य यह कि प्रत्येक इन्द्रियका अपने-अपने विषयमें राग-द्वेष है। कान प्रशंसाके शब्द सुनना चाहते हैं या प्रेमकी मधुर-मधुर बात सुनना चाहते हैं। आँख भी अभीष्ट रूप देखना चाहती है। जैसे बच्चे साइकिल चलाते समय जब किसी खास वस्तुकी ओर देखने लगते हैं तो उनकी साइकिल बलात् वहीं पहुँच जाती है। जब किसीसे हमारा राग या द्वेष हो जाता है तो हमारे कर्मका मुँह मुड़ जाता है—किसीको बचानेके लिए या मारनेके लिए, या किसीको सुख पहुँचानेके लिए या किसीका सुख छीननेके लिए। कर्मको भ्रष्ट करनेवाली वस्तुका नाम है राग-द्वेष। इसलिए

इन्द्रियाँ काम करें, संसारके विषयभोग रहें और राग-द्वेष भी रहते हैं तो रहें, परन्तु हम उनके अधीन न हों, उनके वशमें न हों तयोर्नवशमागच्छेत्। काम करते समय हमारा जीवन सर्वथा निर्दोष एवं न्यायपूर्ण होना चाहिए। पुराणोंमें एक कथा आती है। प्रह्लादके पुत्र थे विरोचन और बृहस्पतिके पुत्र थे कच। दोनों बड़े सुन्दर, स्वस्थ और विद्वान् थे। दोनोंने केशिनी नामकी कुमारी कन्यासे प्रस्ताव किया कि हमारे साथ विवाह करो। उसने जवाब दिया कि तुममें जो श्रेष्ठ होगा उसके साथ मैं विवाह करूँगी। मुझे श्रेष्ठता चाहिए, केवल सौन्दर्य या विद्या नहीं। इसपर दोनों-में यह शर्त लगी कि जो श्रेष्ठ सिद्ध होगा वह विवाह करेगा, किन्तु जो कनिष्ठ सिद्ध होगा वह मारा जायेगा। अब न्याय कौन करे? प्रह्लाद न्याय-परायणतामें प्रसिद्ध राजा थे, उनके सामने दोनों गये। प्रह्लादने निर्णय दिया कि बृहस्पतिका पुत्र कच श्रेष्ठ है। विरोचनके मरनेकी नौबत आगयी। प्रह्लादने पिताकी हैसियतसे अपने पुत्र विरोचनका हाथ पकड़ा और उसे कचके चरणोंमें गिरा दिया। फिर बोले, तुम इसका सिर काट सकते हो। किन्तु सिर काटकर क्या करोगे? मैं समूचा बेटा ही तुमको दिये देता हूँ, तुम चाहे जैसा करो। कचने कहा कि आप जैसे न्यायशील एवं धर्ममूर्ति पुरुषको यदि पुत्रशोक भोगना पड़ जाये तो भविष्यमें कोई न्याय नहीं करेगा। इसलिए न्याय-रक्षाके पक्षमें मैं आपका पुत्र आपको लौटाता हूं।

हमलोग बहुत-सी कहानियाँ और उपन्यास पढ़ते हैं, परन्तु ऐसी कथा कहाँ मिलती है जिसमें कोई आदर्श हो। आदर्शहीन कहानियाँ तो समय काटती हैं।

राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त होकर यदि हम कर्म करते हैं भले ही उसमें विवेक न हो, ईश्वरार्पण भी न हो, हमारे धर्मका पालन ठीक-ठीक हो जाता है—

**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।**
**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ( ३.३५ )**

हमलोग किसी वस्तुको बहुत अच्छी और किसी वस्तुको बहुत खराब कह देते हैं किन्तु कभी-कभी खराब वस्तु यहाँ तक कि संखिया और अफीम भी औषधके काम आती हैं। जिसको हम जहर कहते हैं वह भी कभी-कभी हमारे शरीरके लिए अमृत हो जाता है। कोई वस्तु अपने-आपमें बुरी नहीं होती, उसका दुरुपयोग बुरा होता है। यह बात हम लोगोंने 'लघुकौमुदी' पढ़ते समय अपने गुरुजीसे सीखी थी। उनका कहना था कि कोई शब्द अशुद्ध होता ही नहीं। अतः यह कहना चाहिए कि इसके स्थानपर अमुक शब्दका प्रयोग करना चाहिए—

**अस्य शब्दस्य स्थाने अयं शब्दः प्रयुक्तव्यः रामो गच्छति—** ठीक है **रामस्य गच्छति** भी ठीक है **रामस्य गृहं गच्छति**। अमुक स्थानपर **रामो** ठीक है और अमुक स्थानपर **रामस्य** ठीक है। 'रामो'के स्थानपर 'रामस्य' कहोगे तो तुम्हारा प्रयोग गलत होगा, रामस्य नहीं। तुम्हारी क्रिया और रचना अशुद्ध है, शब्दका प्रयोग करो, हम उसको ठीक जगहपर बैठा देंगे और वहाँ वह शुद्ध हो जायेगा। इसी तरह किसी वस्तुका प्रयोग कहीं, तो किसी वस्तुका प्रयोग कहीं होता है। हमारे तन्त्र शास्त्रमें एक श्लोक है—

**नामन्त्रमक्षरं किंचित् नानौषधिर्वनस्पतिः ।**
**अयोग्यः पुरुषो नास्ति प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः ॥**

ऐसा कोई अक्षर नहीं जो मन्त्र न हो। ऐसी कोई घास नहीं जो दवा न हो। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें कोई-न-कोई योग्यता न हो। तुम उसका उपयोग नहीं कर सकते, यह तुम्हारी कमी है। वह तो कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी उपयोगके लिए पैदा हुआ है। उसका अस्तित्व व्यर्थ नहीं—

**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।**

गीता कहती है कि तुम जिस काममें योग्य हो उसे अपनी योग्यताके अनुसार करो। किन्तु जिसमें तुम अयोग्य हो उसमें अपना बड़प्पन दिखानेके लिए हाथ मत डालो। प्रत्येक मनुष्यके साथ एक धर्म पैदा होता है। जिस प्रकार अग्निका धर्म दाह है, जलका धर्म आप्यायन है, पृथिवीका धर्म धारण है, सूर्यका धर्म प्रकाशन है, उसी प्रकार मनुष्यका धर्म मनुष्यत्व है।

जिस विशेषताके कारण मनुष्यको मनुष्य कहा जाता है, वही मनुष्यका धर्म है। जो मनुष्यत्व छोड़ देगा वह मनुष्य नहीं रहेगा, पशु हो जायेगा, पक्षी हो जायेगा—

**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ( ३.३५ )**

इसके बाद यह प्रश्न उठा कि आखिर मनुष्य पाप क्यों करता है ? केनोपनिषत्‌में यह प्रश्न आया है—

**केनेषितं पतति प्रेषितं मनः**

हमारे मनका साधारण प्रेरक कौन है ? यहाँ अर्जुन यह प्रश्न करते हैं कि पापका प्रेरक कौन है—

**अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।**
**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ (गी० ३.३६)**

यदि कोई बलपूर्वक प्रेरित करता है तो राग-द्वेषके मिश्रणके बिना प्रवृत्तिमें बलवत्ता नहीं आती। हम साधारणतः अपने समभावसे काम करते जा रहे हैं। दौड़ते इसलिए हैं कि कहीं जल्दी पहुँचना है। किसी काममें टालमटोल इसलिए करते हैं कि वह हमें पसन्द नहीं। जल्दबाजी इसलिए करते हैं कि हमें उसकी आवश्यकता है और यह आशंका है कि कोई दूसरा हाथ न मार ले जाये। रागके कारण ही त्वरा आती है। यह जो ज्यादा

एक्सीडेण्ट होते हैं वे त्वराके कारण ही होते हैं। ट्रक ( त्वरक ) त्वराके कारण ही अधिक दुर्घटनाग्रस्त होते हैं। अभी हमलोग कारमें आ रहे थे। हमारे ड्राइवरने ट्रककी त्वरित गति देखकर कहा कि अच्छा भाई तुमको बहुत जल्दी है तो तुम पहले जाओ। बहुत बढ़िया बात थी जिसे जल्दी है उसे जाने दो। हम धीरे-धीरे चलेंगे। ये त्वरक हैं, ट्रक हैं।

अब आप देखो कि हमारी पाप-प्रेरणा कहाँसे आती है? पाप शब्दका अर्थ यह है कि यदि आप अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो उससे बचिये—**पान्ति अस्मात् आत्मानम्**। पाप वह है जिसका परित्याग करके मनुष्य अपने आपको कृतकृत्य करता है—**एतत् परित्यज्य आत्मानं पान्ति**। यदि मनुष्य उसको अपने जीवनमें धारण करेगा तो वह—**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** नाशको प्राप्त हो जायेगा। जो करनेवालेको ही चूस ले, शोषण कर ले, भक्षण कर ले उसका नाम पाप है। जिससे हम गिरें, दूसरे गिरें, हमारी हानि हो, दूसरेकी हानि हो, उसका नाम पाप है। जिसके द्वारा हमारी तथा औरोंकी उन्नतिमें बाधा पड़े उसका नाम पाप है। मनुष्य ऐसा पाप क्यों करता है? इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा नहीं कहा जैसा केनोपनिषद्में मनके सामान्य प्रेरकका नाम बताते हुए कहा गया है—

**केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।**
**केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः॥** ( १.१ )

इसमें परमात्माका नाम नहीं; काम-क्रोधका नाम है। उपनिषद्की प्रेरणामें और गीताकी प्रेरणामें क्या अन्तर है? देखो किसी घरमें बिजलीसे आग लग जाये तो दोष पावर-हाउसका होता है या बिजलीका? न पावर-हाउसका, न बिजलीका। दो तार आपसमें मिल गये और आग लग गयी। आपके घरमें पंखा

चल रहा है और खड़-खड़ बोल रहा है। उसकी जो खड़खड़ाहट है वह बिजलीका दोष है या पावर-हाउसका? उत्तर है कि पंखेकी मशीनका दोष है। परन्तु कोई पूछे कि यह खट्-खट् क्यों हो रहा है तो यह भी कह सकते हैं कि बिजलीकी वजहसे हो रहा है। परन्तु वास्तवमें बिजलीकी वजहसे नहीं हो रहा, पंखेकी खराबीसे हो रहा है। जो पापाचरण हो रहा है वह विश्वसृष्टिमें परिपूर्ण बुद्धि-तत्त्वके कारण नहीं हो रहा है, जो विद्युत्-केन्द्रमें सन्निहित है, उसके कारण भी नहीं हो रहा और जो विद्युत्-धारामें प्रवाहित है उसके कारण भी नहीं हो रहा है। यह तो इसलिए हो रहा है कि इसके यन्त्रमें अनियमितता आगयी है। यन्त्रकी अनियमितता क्या है—

**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। ( ३.३७ )**

ये सब दोष हैं जो ईश्वरीय यन्त्रको दूषित अथवा अनियमित करते रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

**काम वात कफ लोभ अपारा।**
**क्रोध पित्त नित छाती जारा॥**

काम वायु है, तूफान है जो मनुष्यको उड़ा ले जाता है। क्रोध आग है जो जला देती है और लोभ कफ है, कीचड़ है, दलदल है जिसमें आदमी फँस जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि ये सब रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं–रजोगुणसमुद्भवः। रजोगुण क्रियाशील है, तमोगुण भारी है और सत्त्व प्रकाशात्मक है। तीनों गुण अनियमित हैं। प्रत्यक्षके द्वारा इनका अनुमान किया गया है। प्रत्यक्ष क्या है? यह हड्डी-मांसका शरीर। इसका मूल है तामस प्रकृति, तमोगुण। शरीरमें जो क्रिया होती है उसका मूल है रजोगुण और जो ज्ञान होता है उसका मूल सत्त्वगुण है। प्रकृति सत्त्व-रजस्तमोमयी है और भगवान्‌का ही एक विलास है, उनकी ही

एक चेष्टा है। रजोगुणसे उत्पत्ति होती है वह लक्षणोंसे ही पहचानी जाती है। सांख्य और योगदर्शनका यह सिद्धान्त है कि प्रकृति और गुणोंका दर्शन नहीं होता, उनका अनुमान ही किया जाता है।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
(४.१३ व्यासभाष्य)

पंचशिखाचार्यका वचन है, जो व्यासभाष्यमें उद्धृत है कि गुणोंको कोई देख नहीं सकता। जो दीख रहा है वह तो जादूका खेल है। गुण तो अनुमान-प्रधान सांख्यके द्वारा निश्चित किये गये हैं :

लोभः प्रवृत्ति-आरम्भाः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ (१४.१२)

जब जीवनमें लोभ ज्यादा हो और अपने सामर्थ्यसे बाहर बड़े-बड़े कर्मोंका आरम्भ कर दिया जाये तो क्या होगा? यदि कहा जाये कि जो होना होगा हो जायेगा तो वह जुआ हो जायेगा। इसलिए पहले अपने सामर्थ्यका विवेक करके ही कर्म प्रारम्भ करना चाहिए। अन्यथा चित्तमें बेचैनी बनी रहेगी, मस्तिष्कमें तनाव बना रहेगा। हर समय यह रहे, वह रहे, यह बने वह बने—यह स्पृहा रहेगी। इसी स्पृहासे दो धाराएँ निकलती हैं—एक कामकी, दूसरी क्रोधकी—काम एष क्रोध एष—यहाँ 'एष' शब्दका दो बार प्रयोग करके यह बताया है कि—

यः कामः स क्रोधः यः क्रोधः स कामः।

वस्तुतः काम और क्रोधमें ज्यादा फर्क नहीं। जब मनमें कामना हो तो क्रोध बिलकुल नाकपर आकर बैठ जाता है। जरा-सा भी फर्क पड़े वह निकल पड़ता है—

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।

महाशन उसे कहते हैं जिसका भोजन अधिक हो। नीति-शास्त्रका एकवचन है। है तो विनोदका, पर व्यवहारमें ध्यान देने योग्य है :

> कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणम्
> बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
> सूर्योदये चास्तमिते च शायिनं
> विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

यदि विष्णु भगवान् भी अधिक खाने लगें, गन्दे कपड़े पहनें, दाँत साफ न करें, निष्ठुर वचन बोलें, प्यारकी बात न करें, सोयें बहुत तो औरोंकी तो बात ही क्या स्वयं लक्ष्मीजी उनको तलाक दे देंगी।

इस विनोदको असली अर्थमें नहीं, लाक्षणिक अर्थमें लेना चाहिए। लक्ष्मीजी भगवान् विष्णुको कभी नहीं छोड़ेंगी। वे तो सँभाल लेती हैं। भगवान्‌के कपड़े भी वही साफ करवा देती हैं और बोलना भी सिखा देती हैं। भगवान् कठोर बोलते हैं तो लक्ष्मीजी मृदु बोलती हैं। खानेमें भी कह देती हैं बस-बस, ज्यादा खाओगे तो नुकसान करेगा। उनकी बात दूसरी है।

जो काम है, यह बह्वाशी है अर्थात् इसका पेट जितना भी भरो, भरता ही नहीं। एक श्लोक विष्णु-पुराण, पद्मपुराण और भागवतमें आता है—

> पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
> नालमेकस्य तृप्त्यर्थमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

एक आदमीको संसारकी सारी सम्पदा, सारा भोग दे दिया जाये तो भी उसका काम तृप्त नहीं होगा। मनुस्मृतिमें है—

ना जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति। (२.९४)

उपभोगसे कामना शान्त नहीं होती, उसका भोजन बड़ा भारी है। यह अघासुर है। जो कभी तृप्त होनेवाला नहीं, उसको तृप्त करनेका प्रयास क्यों किया जाये? अतः अपने लिए जितना आवश्यक है, उतना ही स्वीकार करके बाकीके लिए पहलेसे ही मर्यादा बना ली जाये। क्योंकि यदि यह स्वयं तृप्त हो जाता तो हम कहते कि अच्छा भाई, तुम तृप्त हो गये अब चले जाओ। परन्तु जब यह स्वयं कभी मानेगा ही नहीं तो जितनी जरूरत है उतना काम लेकर उसे कह दिया जाये कि बस भाई अब इसके आगे नहीं। कहीं तो सीमा होनी चाहिए, मर्यादा होनी चाहिए।

क्रोधको 'महापाप्मा' इसलिए कहा कि जब वह आता है तो कुछ मत पूछिये! भगवान् करे आपको कभी क्रोध न आये। जब आता है तो मनुष्य दाँत पीसने लगता है। उसकी जीभ लड़-खड़ा जाती है, गला सूखने लगता है, मुँह तमतमा उठता है, आखें लाल हो जाती हैं, भौंहें तन जाती हैं। उस समय न तो गुरुजनोंका ध्यान रहता है और न प्रियजनोंका, सारा आचरण अमर्यादित हो जाता है। इसलिए 'क्रोध पाप कर मूल' कहा गया है। यही हाल कामका है: काम भी आपको क्षुब्ध कर देता है—

**कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाः ( मेघदूत, पर्व ५ )**

अतः आप काम-क्रोधको अपना आत्मीय मानकर यह मत कहिये कि यह मेरा काम है, यह मेरा क्रोध है। यह आपका आत्मीय नहीं, शत्रु है। जो आपके घरमें आगया है, प्रविष्ट हो गया है। यह बाहर ही बाहर सड़कपरसे निकल जाये तो जाने दीजिये, परन्तु जब आपके घरमें घुसे तो सावधान हो जाइये।

विद्धचेनमिहके भी तीन रूप बताये। एक ऐसा, जिसमें आत्माका ज्ञान ढँकता नहीं, मालूम पड़ता रहता है और ये आते-जाते रहते हैं। दूसरा ऐसा, जिसमें आत्माका ज्ञान नहीं-सरीखा

होता है और तीसरा ऐसा, जिसमें आत्माका ज्ञान बिलकुल ढक जाता है। इसके लिए गीतामें तीन दृष्टान्त दिये गये—

प्रथम **धूमेनाव्रियते वह्निः** आगमें धुँआ निकलता है। आग दीखती रहती है। धुँआ निकलता रहता है।

द्वितीय **यथादर्शो मलेन च** शीशेपर धूल पड़ गयी। उसमें अपना मुँह नहीं दीखेगा।

तृतीय **यथोल्बेनावृतो गर्भः** जैसे जेरसे गर्भ ढका हुआ होता है और उसका दर्शन ही नहीं होता।

इसमें पहला काम-क्रोध सात्त्विक है, दूसरा राजस है और तीसरा तामस है।

**तेन कामेन क्रोधेन च**

काम और क्रोध दोनोंके द्वारा ज्ञान आवृत होता है और उसपर पर्दा पड़ जाता है—

**आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।**
**कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥** ( ३.३९ )

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि दूसरे लोग तो ज्ञानीसे दुश्मनी नहीं करते परन्तु काम, क्रोध ज्ञानीके दुश्मन हैं। क्योंकि ज्ञानी 'वीतरागभयक्रोध' होते हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थिति भी ऐसी ही होती है—

**वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।**
**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥** ( ४.१० )

यदि आप क्रोधमें आकर कोई व्यावहारिक काम करने लगेंगे तो वह बिगड़ जायेगा। हमारे एक ठाकुर साहब वैसे तो बहुत बड़े विद्वान् थे, पर उनकी कमजोरी यह थी कि उनको क्रोध बहुत जल्दी आता था। जब वे एक अदालतमें बयान देने गये तो प्रति-

पक्षीके वकीलने उनको ऐसा गुस्सा दिलाया कि देखकर अदालत भी दंग रह गयी। बस; प्रतिपक्षीके वकीलका काम बन गया। उसने कहा कि इसी गुस्सेके वश होकर उन्होंने वह काम किया था। ठाकुर साहबकी बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता और प्रभावत्ता काम नहीं आयी। उनके क्रोधके कारण अदालतमें बात बिगड़ गयी। उनका केस खराब हो गया।

काम-क्रोध ज्ञानियोंके नित्य वैरी हैं। अज्ञानी लोग उन्हें अपनाते हैं क्योंकि कम-से-कम कामोपभोगके समय उन्हें क्षणिक सुख मिल जाता है, बादमें वे पछता लेते हैं कि हमने गलत किया। परन्तु ज्ञानी लोग भोगते भी जाते हैं और दुःखी भी होते जाते हैं। वह उनको भोगके समय भी नहीं छोड़ता, उनका नित्य वैरी है। ज्ञानी पुरुष हमेशा ही समझते हैं कि काम-क्रोध स्वीकार करने योग्य नहीं।

कोई एक महात्माके पास गया और कहा कि महाराज हमारे मनमें कामवृत्ति है इसका निवारण कैसे हो ? उसका आशय उस कामवृत्तिसे था जो संसारमें स्त्री-पुरुषोंके मिलन-प्रसंगमें प्रयुक्त होती है। महात्मा बोले कि किसी भी स्त्री या पुरुषके प्रति आकर्षण हो तो एक बार यह देखो कि उसका शरीर बिना चामका है। फिर रक्त-मांस-मज्जायुक्त बीभत्स शरीर दिखायी पड़नेपर कामनाकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यह वैराग्यवानोंकी, भक्तोंकी एक युक्ति है, कामवृत्तिसे बचनेकी।

श्री रंगक्षेत्रमें एक सज्जन किसी स्त्रीके ऊपर छाता लगाकर उसके आगे-आगे उसीकी ओर मुँह करके पीछेको ओर चल रहे थे। श्री रामानुजाचार्य महाराजने देखा; उनको बुलवाया और पूछा कि तुमको क्या चाहिए ? उस व्यक्तिने उत्तर दिया कि मुझे सौन्दर्य चाहिए। श्री आचार्यपादने अपनी आरती सजायी और

जब वे आरती करने लगे तो भगवान्‌ने अपना वह दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य प्रकट किया कि उसका दर्शन करते ही वे सज्जन विभोर हो गये और बोले कि बस-बस, अब मैं तो इसी सुन्दरताको जीवनभर देखता रहूँगा।

भगवान्‌के सौन्दर्यका अनुसन्धान करनेसे कामवृत्ति शिथिल होता है। जो लोग साकार भगवान्‌को न मानते हों उनके लिए अभी यह बात नहीं कह सकता किन्तु आप हिमालयमें बर्फसे ढके हुए और उसकी चोटीपर समाधिस्थ कर्पूर-गौर भगवान् शंकरका स्मरण तो कर ही सकते हैं। कामवृत्तिका उदय होनेपर आप अपना ध्यान उधर ले जाइये और फिर देखिये कि कामवृत्ति कितनी जल्दी काफूर हो जाती है। संस्कृतमें एक श्लोक है :— जिसका भाव यह है—भक्त कहता है कि 'अरे काम तू अपने हाथ क्यों गंदे कर रहा है। देख-देख; हमारे हृदयकी ओर देख यह तो हमारे प्रियतम चन्द्रचूड़के चरणारविन्दका चुम्बन कर रहा है।'

श्वेतवर्ण भगवान् शंकर कामारि हैं उनका ध्यान करते ही काम भाग जाता है। स्त्री-पुरुष विषयक कामवृत्तिके निवारणके लिए साधु लोग और भी बहुत-सी युक्तियाँ जानते हैं। आप लोग मन एकाग्र करनेकी बात करते हैं। एक युक्ति उसके लिए भी सुनिये। आप केवल अपने नेत्रकी पुतलीको हिलने न दीजिये। जोर मत लगाइये। आपकी पुतली जहाँ है वहीं रहने दीजिये। ऊपर-नीचे दाहिने-बायें कहीं भी जाने मत दीजिये। अभी-अभी ऐसा करके देख सकते हैं कि आपका मन कितना एकाग्र हो गया है। यह प्रामाणिक वाक्य है, जिसमें कहा गया है कि—

'आप अपनी आँखकी पुतलीको स्तब्ध कर लीजिये, समाधि आपके हृदयमें निवास करने लगेगी।'

अब आइये पुनः काम-क्रोधकी ओर, यह देखिये कि कामका रूप क्या है ? क्या शकल-सूरत देखकर हम कामको पहचान जायेंगे ? नहीं, जो तुम चाहते हो वही उसका रूप है। हम तो निष्काम होना चाहते हैं। बस-बस, कामनाने रूप बदल लिया है, निष्काम होनेकी इच्छाके रूप में। तुम्हारे हृदयमें अपना स्थान बना लिया है। जिस प्रकार कामरूप राक्षस जब चाहें जैसा रूप बना लेते हैं उसी प्रकार काम भी नानारूप ग्रहण करता रहता है। यहाँ तक कि जब हम कहते हैं—हे काम ! तुम जाओ, तब इस इच्छाके रूपमें भी वह तुम्हारे साथ सट जाता है। वह ऐसी आग है जो कभी बुझती नहीं, कभी पूरी होती नहीं, दुष्पूरेणानलेन च। आओ इसके किलेपर आक्रमण करें। इसका किला भी बहुत विचित्र है। उसका निवास तो हमारी इन्द्रियोंमें है, मनमें है, बुद्धिमें है—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। ( ३.४० )

एक राजा किसी दूसरे राजापर आक्रमण करनेके लिए चला तो सामनेवाले राजाने उसके सारथिसे मित्रता जोड़ ली। वह जिस रथपर जा रहा था उसका सारथि विपक्षी राजाका आदमी हो गया। उसकी बागडोर कमजोर और पकड़ ढीली हो गयी।

घोड़े भी खूब खा-पीकर दुश्मनके वशमें हो गये। अब राजा क्या करे ! उसका दुश्मन घोड़ोंके रूपमें और कमजोर बागडोरके रूपमें उसके रथमें ही सम्मिलित हो गया। ऐसा शत्रु अगर आपके पीछे लग जाये तो आप क्या करेंगे ? आपकी इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन बागडोर है और बुद्धि सारथि है। जब आपके जीवन-रथका सारथि, घोड़े, बागडोर, ये तीनों दुश्मनके हाथमें चले जायें तो आप अपनी अभीष्ट यात्रा कैसे पूरी करेंगे ?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ( ३.४० )

घोड़े हमारे ठीक चल रहे हों, सारथि हमारा विश्वस्त नौकर हो और बागडोर हमारी बहुत मजबूत हो तभी हम अपने जीवन-रथपर चलकर सफलता प्राप्त कर सकते हैं। काम-क्रोध हमारे ज्ञानको ढक देता है। उसे वशमें करनेकी दो रीतियाँ बतायी गयी है :

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ( ३.४१ )

पहली बात यह है कि इसका मार्ग नियमित हो, मर्यादित हो। आपके अन्दर जो इच्छाएँ हों, समाजके लिए हितकारी हों। आपकी इच्छाओंका प्रवाह उफनती नदीकी धाराके समान नहीं होना चाहिए, बल्कि नहरकी तरह नियन्त्रित होना चाहिए। नहर कैसे निकाली जाती है, आप जानते ही हैं। एक ओर उसको मार्ग देना चाहिए, दूसरी ओर रोक लगानी चाहिए। जब बाँध और मार्ग दोनों कामनाओंकी नदीके लिए तैयार होते हैं तभी वह नियन्त्रित होती है।

दूसरी रीति है कामसे सम्बन्धका त्याग। पहली रीतिके अनुसार इन्द्रियोंको मर्यादित करनेसे इस काम-पापीका परित्याग हो जाता है। 'प्रजहिहि' में 'जहिहि' क्रियापद है और 'प्र' उपसर्ग है। उपसर्ग प्रायः निरर्थक होते हैं। परन्तु धातुके साथ जुड़नेके बाद उनके अर्थको प्रदीप्त कर देते हैं। यह उपसर्गोंका नियम है। कामका परित्याग क्यों करें ? इसलिए कि यह 'ज्ञान-विज्ञान नाशनम्' है, आपके ज्ञान-विज्ञानका विरोधी है। कठोपनिषद्में कहा है कि विषयोंको पुष्ट करनेवाली हैं इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंको पुष्ट करनेवाला है मन। विषयोंका पालन इन्द्रियाँ करती हैं और इन्द्रियोंका पालन मन करता है। मनका पालन बुद्धि करती है।

हम अपने लिए जिस वस्तुको सुखकारी समझते हैं, उसको

चाहते हैं। हमारी बुद्धि समझती है, मन चाहता है और इन्द्रियाँ करती हैं। यह तीन स्थितियाँ हैं। यदि आप इन्हीं तीनोंमें बैठकर काम-क्रोधका नियन्त्रण करेंगे तो नहीं होगा। अब इनसे अलग होकर इनका नियन्त्रण करेंगे तभी ये नियन्त्रित होंगे।

अतः जरा इन्द्रियोंसे, मनसे, बुद्धिसे परे होकर थोड़ी देर बैठिये। पाँच मिनट द्रष्टा और साक्षी होकर बैठ जाइये। इनसे अलगावका अनुभव कीजिये। अपनेको रागद्वेषयुक्त बुद्धिसे राग-द्वेषयुक्त मनसे, रागद्वेषयुक्त इन्द्रियोंसे अलग करके देखिये। फिर आप देखेंगे कि इनमें कितना रागद्वेष है और ये कितने त्याज्य हैं।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ (३.४३)

जहिका अर्थ होता है मार डालो और जहिहिका अर्थ होता है छोड़ दो; सम्बन्ध त्यागका भाव 'जहिहि' में है। इन्द्रियाँ नहीं मरतीं, मन नहीं मरता, बुद्धि नहीं मरती—इसमें जो शत्रुपन रह रहा है वही मरता है। अतः आप जिस शत्रुके वशवर्ती होकर अपना व्यवहार चला रहे हैं उसे आत्मज्ञानकी तलवारसे नष्ट कर दीजिये और अपने जीवनमें शुद्ध व्यवहारकी प्रतिष्ठा कीजिये।

अब इसके बाद आता है अवतारका प्रसंग। वह अद्भुत है। हमने सोचा कि अब एक ही बारमें सारी गीताको भागवतके सप्ताहकी तरह क्या सुनना! आप सुनते रहो और हम सुनाते रहें। मैंने कहीं पढ़ा था, एक जवान आदमीने चर्चिलकी वर्षगाँठके दिन जब यह कहा कि ईश्वर करे हम आपकी सौवीं वर्षगाँठ मनावें, तो चर्चिलने मुस्कराकर उत्तर दिया—'हमको थोड़ी-थोड़ी उम्मीद तो है कि तुम तबतक रहोगे!' आप लोगोंकी सुननेकी इच्छा बनी रहे। आप लोग उम्मीद रखें कि हम सुनानेवाले भी बने रहेंगे।

## प्रवचन-८

( २३-११-७४ )

चतुर्थ अध्यायके आरम्भमें स्वच्छन्द वाङ्मय अवतार प्रकट हुआ। अर्जुनने जैसा कि दूसरे-तीसरे अध्यायोंमें प्रश्न किया, चतुर्थ अध्यायके प्रारम्भमें पूछा कि भगवन्, आपकी यह जो कर्मयोग-साधना है, इसकी कोई परम्परा अथवा सम्प्रदाय है कि नहीं? आपके ये नवीन क्रान्तिकारी और प्रगतिशील विचार हैं अथवा प्राचीन परम्परा या सम्प्रदायके साथ भी इनका कोई अम्बन्ध है? अर्जुनके इन प्रश्नों के सन्दर्भमें यह ध्यान देनेकी बात है कि प्रगत्ति परम्पराको स्वीकार नहीं करती। जहाँ परम्परा प्रगतिपर हावी होना चाहती, है वहाँ संघर्ष होता है।

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने वचनोंकी अवतारणा की। देखो, अवतार हो रहा है भगवान् की वाणीका। वे विना पूछे ही वोल रहे हैं। वैसे धर्मशास्त्रका नियम यह है कि पूछनेपर ही किसीको सलाह देनी चाहिए—

नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात् ॥ ( मनुस्मृति २.११० )

मनुजी कहते हैं कि बिना पूछे जन-जनको सलाह मत दो। अन्यथा तुम्हारी सलाहकी कोई कीमत नहीं रहेगी। यदि कोई अन्यायपूर्वक पूछ रहा हो तो उसको भी परामर्श मत देना। परामर्श के स्थानपर मौन रहना भी दोष है और आवश्यकतासे अधिक परामर्श देना भी दोष है परन्तु कहीं-कहीं ऐसा नियम है

कि यदि कोई अपना अत्यन्त वात्सल्य-भाजन हो तो उसे बिना पूछे भी सलाह दे देनी चाहिए।

**ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत । (भाग० १.१.८)**

**अनापृष्टमपि ब्रूयात्** जब यह दिखायी दे कि कोई आदमी गलत काम कर रहा है और गड्डेमें गिरनेवाला है तो उसे भी बिना पूछे सलाह देनी चाहिए।

एक बार हम नावमें कहीं जा रहे थे। लम्बी यात्रा थी, खूब आरामसे सो रहे थे। एकाएक किनारेके गाँवके लोग चिल्लाये कि नावको बचाओ-बचाओ आगे झरना है, गड्ढा। हमारे मल्लाहको भी नहीं मालूम था। आगे नाव जाती तो गिरकर चकनाचूर हो जाती। गाँव वालोंने बिना पूछे ही आवाज देकर हमें और हमारी नावको बचा लिया। ऐसे अवसरपर भी बिना पूछे सलाह दे देनी चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अपने आप ही बता रहे हैं कि मैं जो उपदेश कर रहा हूँ, उसमें एक परम्परा है। परन्तु इस परम्पराका प्रवर्तक कोई अन्य नहीं, स्वयं मैं ही हूँ। यहाँ उन्होंने केवल अपने वचनोंका ही नहीं किन्तु स्वयंके अवतारत्वका भी पोषण-समर्थन कर दिया। अवतारके प्रसंगमें एक छोटी-सी बात ध्यानमें रख लीजिये। जब हमारे कर्ममें भगवान्का समावेश अथवा अवतरण होता है तब उसका नाम धर्म हो जाता है। पीछे भगवान्की प्रेरणा और सामने भगवान्की सेवा, इन दोनोंके बीचमें जो हमारा कर्म है उसमें स्वयं भगवान् विद्यमान रहते हैं। अच्छा, हमारे मनमें प्रेम है, किन्तु प्रेम तो जन-जनकी ओर जाता है—कभी इधर कभी उधर। क्योंकि वह अपने स्थिर विषयको ढूंढ़ता रहता है। परन्तु जब इस प्रेममें, आसक्तिमें भगवान् आ

जाते हैं तो उस प्रेम अथवा आसक्तिका नाम भक्ति हो जाता है। प्रेमासक्तिके सामने भी भगवान् और उसके पीछे प्रेरणा देनेवाले भी भगवान्। कर्मका नाम धर्म और आसक्तिका नाम भक्ति। उसमें केवल भगवान्का समावेश होना चाहिए। प्रेरक भी भगवान् और विषय भी भगवान्। भगवान्का दिया हुआ प्रेम निष्काम होता है। भगवान्की दी हुई आसक्ति निष्काम होती है और वह विषय करती है सर्वात्माको। इसके द्वारा सबकी सेवा होती है।

जिस प्रकार भगवद्-विषयक आसक्तिका नाम भक्ति और कर्मका नाम धर्म है, उसी प्रकार यदि मनमें भगवान्के लिए एकाग्रता हो जाये तो उसका नाम योग है। बुद्धिमें ईश्वरका अवतार हो जाये तो उसका नाम ज्ञान है। ज्ञानयोग कहो, सांख्ययोग कहो, भक्तियोग कहो, कर्मयोग कहो, ये सब-के-सब भगवत्सम्बन्धसे ही योग बनाते हैं। अब भगवान्की वाणी सुनिये—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ (४.१)

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ (४.२)

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ (४.३)

इसमें भगवान्ने एक तो यह बताया कि योग अनादि है और इसका पूरी तरह कभी नाश नहीं होता। मैंने यह योग पहले-पहल विवस्वान् सूर्यको बताया था। सूर्य भगवान्के सच्चे शिष्य हैं। आप कर्मयोगीका दृष्टान्त ढूँढ़ने जायें तो सूर्य जैसा सच्चा कर्म-योगी और कोई नहीं मिलेगा। आप प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्यके दर्शन करें और सायंकाल विदा भी करें—

आगतं स्वागतं ब्रूयात् गच्छन्तं पृष्ठतो व्रजेत्।

सज्जनोंके आनेपर हाथ जोड़कर स्वागत करना चाहिए और जब वे जाने लगें तो कुछ दूर तक उनके पीछे चलकर विदा करना चाहिए।

सूर्यके आने पर स्वागत और नमस्कार इसलिए कीजिये कि वे भगवान्के द्वारा कर्मयोगके प्रथम अधिकारी नियुक्त हुए हैं। उनसे सबको आसक्ति मिलती है, सबको प्रकाश मिलता है। वे सबको समानरूपसे बिना किसी भेद-भावके ज्ञान देते हैं। एक कर्मयोगी सेवा करने जाये और कहे कि मैं चोरोंके मुहल्लेमें सेवा नहीं करूँगा तो उसका कर्मयोग अधूरा माना जायगा। चोरकी चोरी छुड़ाना एक बात है और यदि वह भूखों मर रहा हो, बीमार हो, वर्षामें भींग रहा हो तो उसको भोजन देना, उसकी दवा करना, उसे आश्रय देना दूसरी बात है। कर्मयोगी चुन-चुनकर सेवा नहीं करता, प्रत्युत जहाँ भी सेवाकी आवश्यकता होती है वहाँ अपनी सेवाकी वर्षा कर देता है। यही सूर्यकी सेवा है : इसलिए वे सच्चे कर्मयोगी हैं और परमात्माके ही स्वरूप हैं। उनके बाद दूसरे अधिकारी हैं मनु। वे भी भगवत्स्वरूप हैं। सबके शरीरमें मन बनकर भगवान् ही बैठे हैं। जैसे बाहर सूर्य भगवान्की विभूति हैं, वैसे सबके हृदयोंमें मन भी भगवान्की विभूति है—

**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि। (१०.२२)**

अतः हमें मनका आदर नहीं करना चाहिए। हमारे जीवनमें मनका भी महत्त्व है। परन्तु जब वह पराधीन हो जाये तो उसका आदर इसीमें है कि उसको पराधीनतासे बचा लिया जाये। मनु क्या हैं? मननात्मक है विचार और प्रकाशात्मा है बुद्धि। मानव के उत्पत्तिके मूलमें मनु और श्रद्धा हैं। श्रद्धा पत्नी है और मनु पति। जहाँ विचार और श्रद्धा दोनोंका ठीक-ठीक मेल है वहीं मानवकी पूर्णता है। केवल तर्क-वितर्कसे कोई मनुष्य, मनुष्य

नहीं होता। तार्किक व्यक्ति कर्तनी ( कैंची ) के समान हो जाता हैं। जैसे 'हिंस' शब्द उलटकर 'सिंह' हो जाता है इसी प्रकार 'कर्त' शब्द उलटकर 'तर्क' हो जाता है। कृती कर्तने धातुसे बने 'कर्त' शब्दको उलटा कीजिये तो तर्क हो जाता है। तर्क अर्थात् बुद्धि काटनेका औजार, उपकरण। केवल तर्क-वितर्क मनुष्यका जीवन नहीं, मनुष्यके जीवनमें श्रद्धा-सम्वलित्त विचार और विचार सम्वलित श्रद्धा दोनोंका समन्वय होना चाहिए। श्रद्धा और मनु दोनों मिलकर ही मनुष्यके पूर्वज हैं, आदि कारण हैं।

देखो, पहले सूर्यरूपमें केवल प्रकाश है। अन्तर्यामी भगवान्‌के द्वारा सर्वप्रथम प्रकाशको कर्मयोग प्राप्त हुआ। फिर प्रकाशसे विचार और श्रद्धाको कर्मयोगकी प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् विचार श्रद्धासे इक्ष्वाकुको। 'क्षु' धातुका अर्थ है छींकना। छींकते हैं तब 'इक्षु' की ध्वनि होती है। 'इक्षु' शब्द जिसके भीतर भरा हुआ है, उसका नाम होता है 'इक्ष्वाकु'। इक्ष्वाकु हमारे ऐन्द्रियक जीवन हैं। इनमें कर्मयोग रहना चाहिए। हम आँखसे सबको देखते हैं। आँखमें राग-द्वेष नहीं, जो सामने होता है उसे जाहिर कर देती है। नीचे-से-नीचा और ऊँचे-से-ऊँचा दिखा देती है। इसी प्रकार राग-द्वेषविनिर्मुक्त होकर हमारा हाथ भी सबकी सेवा करनेके लिए तैयार रहता है। अतः हमारे जीवनमें सेवाभावका निवास होना चाहिए। प्रकाश, विचार, श्रद्धा और सेवा—ये चारो जो हमारे आध्यात्मिक जीवनमें प्रकट हैं, इन्हींकी परम्परामें सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु एवं अन्य राजर्षि हैं: भगवान्‌ने कहा कि मैंने इनको कर्मयोगका उपदेश किया है, ये हमारे शिष्य हैं। कोई शिष्य भी तो तभी होता है जब वह उपदेष्टाके उपदेशके अनुरूप काम करता है। इसलिए भगवान्‌ने इनको अपना शिष्य स्वीकार किया है। पृथिवी शिष्य है, जल शिष्य है, अग्नि शिष्य है, वायु शिष्य है, मनु भी शिष्य है, परन्तु मनुष्य शिष्य नहीं। क्योंकि वह अपनी

स्वच्छ प्रकृतिके द्वारा भगवान्‌के आदेशका उल्लङ्घन करता है। भगवान्‌ने कहा कि अर्जुन, मैं अपना वही उपदेश, जो अव्यय है, तुमको बता रहा हूँ।

अब प्रश्न होता है कि भगवान् अर्जुनको ही क्यों बता रहे हैं? उनमें ऐसी क्या विशेषता है? उन्हें उस उपदेशका कौन-सा अधिकार प्राप्त है? इसका उत्तर स्वयं भगवान् ही देते हैं और मुहर लगाते हुए कहते हैं कि 'अर्जुन, तुम मेरे भक्त हो, सखा हो'। इससे उत्तम अधिकार तथा वैशिष्ट्य और क्या हो सकता है—

**भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।**

इसमें 'च' पद अन्वाच्च है, अर्थात् तुम मेरे भक्त और सखा दोनों हो। परन्तु यहाँ भक्त मुख्य है, और सखा गौण। क्योंकि जब **भिक्षामट गामानय** कहेंगे तो उसका तात्पर्य होगा कि भिक्षा माँगकर लाओ और गौ मिले तो हाँककर उसे लेते आना। इस कथनमें भिक्षा माँगना जरूरी है। पहला काम है खानेके लिए रोटी लाना और साथ-साथ गौ भी लाना।

अर्जुन भगवान्‌के भक्त हैं और ऐसे भक्त हैं कि एकबार देवर्षि नारदजीके मनमें शंका हो गयी। उन्होंने सोचा कि अर्जुन कैसा भक्त है जिसके लिए भगवान् ड्राइवरका काम करते हैं। हमने देखा है कि जब कोई बड़ा मेहमान आता है तब बड़े लोग स्वयं कार ड्राइव करते हैं। नारदजीने सोचा कि अर्जुनमें ऐसी क्या विशेषता है जो भगवान् उसका इतना आदर करते हैं और उसके रथके सारथि बनते हैं। परीक्षाके लिए एक प्रसंग आ गया। कोई सभा हो रही थी, जिसमें अर्जुनको भी सम्मिलित होना था। उनके आनेमें बिलम्ब हो गया, तो भगवान्‌ने कहा कि अर्जुनकी प्रतीक्षा करो। नारदजीने कहा—आप सभा आरम्भ कीजिये। मैं अर्जुनको लेकर आता हूँ। अब ये अर्जुनके पास गये, तो देखते क्या हैं कि

वे सो रहे हैं और उनके रोम-रोमसे 'कृष्ण'-'कृष्ण'की ध्वनि निकल रही है। नारदजी विभोर हो गये और उन्होंने भी अपनी वीणा बजाना शुरू कर दी। अर्जुनके रोम-रोमसे निकले 'कृष्ण'-'कृष्ण' और उसे स्वर दें नारद। बहुत देरके बाद कोई और गये, तो वे भी वहीं रम गये। फिर स्वयं श्रीकृष्ण गये और वहाँका दृश्य देखकर नाचने लग गये। नारदजीका भ्रम दूर हो गया। वास्तवमें यह भी प्रेमकी कला है जो व्यक्तिको संगीत और नृत्य सिखा देती है।

**प्रेमगुरुणा गौरीगणः शिक्ष्यते।**

प्रेम गुरु होता है। जिसके हृदयमें आता है उसकी बोलीमें संगीत और उसकी चालमें नृत्य भर देता है। प्रेमीको नृत्य या गाना सीखना नहीं पड़ता, उसकी वाणी स्वयं गुनगुनाने लगती है और पाँव थिरकने लगते हैं। यह प्रेमगुरुकी महिमा है।

अर्जुन भक्तके साथ-साथ सखा भी हैं। उन्होंने गीतामें स्वयं भगवान्‌के सामने स्वीकार किया है कि मैंने आपसे बहुत हँसी-मजाक किया है। हँसी-मजाकके माध्यमसे आपका तिरस्कार भी कर डाला है—

**यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।**
(११.४२)

अर्जुन और श्रीकृष्णमें इतनी घनिष्ठता थी कि वे अपनी-अपनी पत्नियों—द्रौपदी और सत्यभामाके साथ एक ही कमरेमें रहते थे। उनका खाना-पीना और सोना सब एक साथ चलता था। इस सम्बन्धकी आलोचनाओंका उत्तर कुमारिल्लभट्टने अपने तन्त्र-वार्तिकमें दिया है। कहा है कि महाभारतका यह प्रसंग बड़ा उत्तम है।

अर्जुन सखा होनेके कारण कभी-कभी विहार, शयन, आसन, भोजन आदिमें भगवान्का तिरस्कार तो कर देते हैं, किन्तु जब सम्बन्धकी चर्चा करते हैं तब कहते हैं—

**पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।**
**( ११.४४ )**

अर्थात् जैसे पिता पुत्रका, मित्र मित्रका और पति पत्नीका अपराध क्षमा करता है वैसे हो आप हमारे उपहासको क्षमा कर दीजिये। जब अर्जुनमें ऐश्वर्यकी बुद्धि आयी तो सख्यबुद्धि गौण पड़ गयी।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम मेरे सखा हो इसलिए अब मैं तुमको उत्तम रहस्य बताता हूँ। 'सखा' शब्दका एक अर्थ 'सह खादति' और दूसरा 'सह ख्यायते' है। 'सह खादति' माने एक साथ खाये और 'सह ख्यायते' माने एक साथ नाम लिया जाये। जैसे श्रीकृष्णार्जुन। एकका नाम लेते ही दूसरा नाम आये—

**ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।**
**भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥**

अर्थात् सखा वह है जो देता है, लेता है, पूछता है, बताता है, खाता है, खिलाता है। इसीका नाम सख्य है जो भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनके साथ मुख्यरूपसे चलता है।

अच्छा; अब आगे बढ़ें। अर्जुनने जब रहस्यकी बात सुनी तब भगवान्से एक बात पूछ ली। वह बात अर्जुनको मालूम नहीं थी, ऐसा तो नहीं लगता, क्योंकि आगे चलकर उन्होंने कहा है—

**असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे। ( १०.१३ )**

असित, देवल, महर्षि नारद और व्यास इन सबने मुझको यह बताया है कि श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं। आप स्वयं भी यही

कह रहे हैं। अतः यह बताइये कि सूर्य बहुत पुराने हैं और आप बादमें पैदा हुए हैं। मनु भी आपसे पूर्वके हैं। उनके वंशज इक्ष्वाकुका काल भी दूसरा है फिर आपने अपने पूर्वके लोगोंको उपदेश कैसे किया? यह शंका अर्जुनने इसलिए प्रकट की कि लोगोंको श्रीकृष्णके स्वरूपका भान हो जाये। इसका उत्तर श्रीकृष्णने यह दिया कि योग अव्यय है और मैं भी अव्यय हूँ। गीतामें अव्यय शब्दका प्रयोग जीवके लिए भी है, जगत्के लिए भी—

अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। (१५.१)

परमेश्वर भी अव्यय है और उसकी प्राप्तिका उपाय भी। इस प्रकार अव्ययका प्रयोग प्रायः सबके लिए है। जो ईश्वर सर्वथा निराकार होता है और जिसमें आकार ग्रहण करनेकी क्षमता नहीं होती, वह तो असमर्थ है—सामर्थ्यहीन है।

हम नैनीतालमें एक राजाके यहाँ ठहरे हुए थे। एक दिन वे दाढ़ी-मूँछ लगाकर आये और हमको बताया कि हमने फैन्सी ड्रेस शोके लिए (यह वेश) धारण किया है। वे थे राजा और उन्होंने साधुका वेश बना लिया था। हमारा कमण्डलु भी ले गये थे। पहचानमें नहीं आते थे। सर्वथा साधु लगते थे। एक लौकिक राजा साधुका वेश बना सकता है और साक्षात् परमेश्वर मनुष्यका वेश नहीं बना सकता? यह मान्यता तो ईश्वरका तिरस्कार है। वास्तवमें सभी तत्त्व यहाँतक कि पृथिवी भी निराकार है। क्योंकि पृथिवीका कारण है परमाणु और वह साकार नहीं। परमाणुसे कार्यरूप पृथिवी बन जाती है, किन्तु वे स्वयं निराकार होते हैं, निष्क्रिय होते हैं, अनगढ़ होते हैं। परमाणुओंमें आकार-विकार नहीं होता, परन्तु वे मिलकर संघात बनाते हैं, प्रसरण बनाते हैं और उनसे सृष्टि बनती है। एक स्थूल उदाहरण लीजिये। आपके हाथमें जो शीशा है उसका आकार क्या है? वह कंगन है, कुण्डल

है या सिल्ली है ? सोनेका अवतार है सिल्ली, सोनेका अवतार है कंगन या कुण्डल। उसका जो गलाया हुआ रूप है वह भी उसका असली स्वरूप नहीं। सोनेका अपना कोई रूप नहीं। वह तत्त्व-रूपसे निराकार है। उससे कंगन, कुण्डल, सिल्ली या द्रव कुछ भी बना लीजिये, ये सब रूप-स्वर्णके अवतार ही होते हैं। जब कोई भी मूल वस्तु अवतार लेती है तभी वह हमारी दृष्टिका विषय होती है। जो परमेश्वर केवल निराकार है वह हमारे हृदयमें कैसे आ सकता है ? हमारा छोटा-सा हृदय किसी बड़े परमेश्वरको अपने भीतर ले नहीं सकता, क्योंकि वह असमर्थ है, अक्षम है। जो अक्षम नहीं है, उसे संस्कृतमें क्षम कहते हैं—सक्षम नहीं, जैसा कि हिन्दीमें कहा जाता है। क्षमका अर्थ है—करनेमें समर्थ। सक्षमका अर्थ है—क्षमाके साथ=क्षमायुक्त। यह एक बात मैंने ऐसे ही आपको सुना दी।

अब, हमारे जो ईश्वर हैं वे संसार द्वारा स्वीकार किये गये अन्य ईश्वरोंसे कुछ विलक्षण हैं। हमारे वैदिक ईश्वरको समझना थोड़ा कठिन है, क्योंकि वे इस जगत्‌के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। दुनियाको बनाया भी उन्होंने ही और दुनियाके रूपमें बने भी वही। वही सबको बनानेवाले हैं, वही सब हैं, और वही सबमें हैं। वह प्राज्ञके रूपमें सर्वकारण है, ईश्वरके रूपमें सबका बीज है, हिरण्यगर्भके रूपमें सबका अंकुर है और विराट्‌के रूपमें वृक्ष है। वह परमेश्वर ही सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके रूपमें प्रकट होता है। अन्यथा भगवान्‌का सर्वत्र और सब रूपोंमें दर्शन बिलकुल झूठी कल्पना हो जायेगी। परमेश्वर वह सोना है जिससे जगत्‌के आभूषण बनते हैं, वह मिट्टी है जिससे जगत्‌के घट-पटादि बनते हैं, वह लोहा है जिससे सब औजारोंका निर्माण होता है। दुनियाका मूल तत्त्व है परमेश्वर। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं। चाहे जहाँ और चाहे जिस पदार्थमें हम परमेश्वरका दर्शन कर

सकते हैं। आकार, मूल द्रव्यका अवतार होता है। जगत्की मूल-भूत वस्तु ही आकारके रूपमें परिवर्तित होती है। ईसाई-धर्ममें परमेश्वरको जगत्का उपादान नहीं मानते, निमित्त मानते हैं। मुस्लिम धर्ममें भी परमेश्वरको जगत्का उपादान नहीं मानते, निमित्त मानते हैं। हमारे आर्यसमाजी लोग भी परमेश्वरको जगत्का निमित्त कारण ही मानते हैं, उपादान कारण नहीं। किन्तु हमारा जो सनातन वैदिक धर्म है वह परमेश्वरको जगत्का निमित्त कारण माननेके साथ-साथ उपादान कारण भी मानता है। उसकी मान्यताके अनुसार परमेश्वर ही वह मसाला या मैटर है जिससे यह जगत् बना है। अतः जगत्में परमेश्वरका अवतार भी होता है और मूर्ति भी होती है।

अब आप यह देखिये कि निराकार ईश्वर निष्प्राण अथवा हृदयहीन तत्त्व है क्या? यदि हृदयहीन नहीं तो भक्तोंकी प्रार्थना क्यों न सुने अथवा अपनी सृष्टिमें आवश्यकता समझकर क्यों नहीं अवतरित हो? आप इन श्लोकोंमें अवतारके मूल रूपका विवेचन, अवतारकी प्रक्रिया और अवतारका प्रयोजन देखें—

**अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।**

यह है अवतारका मूल स्वरूप;

**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।** ( ४.६ )

यह है अवतारकी प्रयक्रिा; और

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥** ( ४.६ )
**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
**धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥** ( ४.८ )

यह है अवतारका प्रयोजन, अवतार लेनेपर भी ईश्वरमें कोई विकार नहीं आता, यह बात इस श्लोकमें बतायी गयी है—

**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।**
**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ( ४.९ )**

अब इन चार श्लोकोंसे प्रतिपादित अवतारके स्वरूप, प्रक्रिया प्रयोजन एवं निर्विकारताका फल हमारे जीवनमें कैसे आयेगा यह भी बता दिया—

**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।**

आप लोग एक-एक पर ध्यान दें। परमात्मा अजन्मा होते हुए भी जन्म लेता है। संसारमें दो तरहसे जन्म होता है, एक क्रियासे दूसरा विक्रियासे। क्रिया और विक्रियामें अन्तर होता है। जब हम बच्चे जवान और जवानसे बूढ़े होते हैं तब इसका नाम विक्रिया है। हमारा एक रूपसे दूसरे रूपमें बदलना स्वाभाविक एवं प्राकृत विकार है। प्रकृतिसे महत्, महत्से अहंकार और अहंकारसे तन्मात्राओंमें रूपान्तरण भी विक्रिया ही है। किन्तु जब सृष्टिकर्ता ब्रह्मा मनुष्य, पशु, पक्षी आदिका सृजन करते हैं तब वह क्रिया होती है। गढ़े हुए आकार दूसरे होते हैं और अपने आप बने हुए आकार दूसरे होते हैं। आप पहाड़में-से पत्थर उठा ले आइये, उसकी जो आकृति है, वह प्राकृत है किन्तु जब छेनी-हथौड़ेसे उसमें कोई आकृति बनाते हैं तब उसका रूप दूसरा हो जाता है। वैसे क्रियासे भी आकार बनता है और विक्रियासे—विकारसे भी आकार बनता है। किन्तु भगवान्का जो स्वरूप है एक तो अजन्मा है और दूसरे उसमें विकार नहीं होता, कोई परिवर्तन नहीं होता—

**अजोऽपि सन्नव्ययात्मा !** एक विशेषता यह भी है कि भगवान् सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर हैं—

ईश्वरोऽपि सन् वे जड़ तत्त्व नहीं, इसलिए चेतन और स्वाधीन तत्त्व होनेके कारण जब उस सहृदय परमेश्वरमें कोई संकल्प उठता है तब वे उसके अनुसार अपना रूप प्रकट कर लेते हैं।

आपने सुना होगा, अकबरने बीरबलसे पूछा—'तुम्हारे ईश्वरके पास कोई अच्छा आदमी नहीं है क्या ? जब जरूरत पड़ती है तो खुद ही संसारमें आता है। अपने किसी आदमीको क्यों नहीं भेज देता ?

बीरबल बोले कि इसका उत्तर हम आपको समयपर देंगे। उन्होंने अकबरके छोटे लड़केकी एक मूर्ति बनवायी, उसको कपड़ा पहिनाया और आयाको सिखा-समझा दिया। जब सब लोग नाव-पर जल क्रीड़ा करने गये तब आयाने सिखानेके अनुसार बनावटी बच्चेको इस प्रकार पानीमें गिरा दिया जैसे वह गफलतसे उसके हाथसे छूट गया हो। नदीमें गिरते ही अकबरने आव देखा न ताव, न किसीसे इशारा किया, पकड़नेके लिए वही कूद पड़ा, जब लाये तो वह मोमका पुतला था, लड़का नहीं। अब तो अकबर बहुत नाराज हुए कि यह क्या बदतमीजी है ? बीरबलने विनय-पूर्वक कहा 'हुजूर यह आपके प्रश्नका उत्तर है। यहीं हम सब आपके कर्मचारी आपकी आज्ञापर कूद पड़नेवाले—मर जानेवाले मौजूद हैं। लेकिन आपने हमलोगोंमें-से किसीको भी हुक्म नहीं दिया, और बच्चेको बचाने स्वयं कूद पड़े। हमारा ईश्वर भी ऐसा ही सहृदय है, जब वह देखता है कि यहाँ उसकी जरूरत है तब वह अपने किसी आदमीको न भेजकर स्वयं कूद पड़ता है।

**अजोऽपि सन्नव्ययात्मा, भूतानामीश्वरोऽपि सन् प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय**

इसमें प्रकृति शब्दसे यह मत समझ लेना कि कोई जड़ प्रकृति है। भगवान्‌ने कहा—'स्वां प्रकृतिम्'—यह मेरी अपनी प्रकृति है और इसपर मेरा पूर्ण अधिकार है। यह मेरी प्रकृष्ट रचना है।

प्र=प्रकृष्ट, और कृति=रचना अथवा प्र=प्रथम और कृति=कारीगरी। भगवान्‌की पहली कारीगरी यह है कि उन्होंने आत्ममायया=अपनी मायासे अपने आपमें ही जादूका खेल दिखाया और कहा कि देखो मैं मनुष्य बनाता हूँ, पशु-पक्षीके रूपमें प्रकट होता हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, मैं जवान हूँ। वेदके मन्त्र बोलते हैं—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥
(श्वेताश्व० उप० ४.३)

'प्रभो! तुम्ही स्त्री हो, तुम्हीं पुरुष हो, तुम्हीं कुमार हो, तुम्हीं कुमारी हो। तुम्हीं सबके रूपमें प्रकट होते हो। तुम्हीं बूढ़े बाबा बनकर लठिया टेकते हुए रास्तेपर चलते हो, मैं तुमको पहचान गया, पहचान गया।'

जब हम यह कहेंगे कि यह परमेश्वर नहीं, तो इसका अर्थ होगा कि देशमें, कालमें, इस रूपमें परमेश्वर नहीं और जो इस देशमें, इस कालमें, इस रूपमें नहीं होगा वह परिपूर्ण कैसे होगा?

यह भगवान्‌का जादूका खेल है कि वह अपनेको ही सब रूपोंमें दिखा रहे हैं और भक्त लोग उनको पहचानते हैं। श्रीहनुमानजी रावणके दरबारमें गये। सबको दीख रहा था रावण और हनुमानजीको रावणमें दीख रहे थे राम। आप गोस्वामी तुलसीदासजीका चित्रण देखिये—

जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि।

रावणमें जो शक्ति है, वह उसकी अपनी नहीं, भगवान्‌की है। रावण भी प्रेमसे शून्य नहीं। उसमें कितनी श्रद्धा है, कितनी प्रीति है, इसका चित्रण रामचरितमानसमें पढ़िये। वे रावणको नितान्त दुष्ट नहीं कहते। क्योंकि वह कभी-कभी मन-ही-मन जानकीजीके चरणोंकी वन्दना भी करता है और ऐसा करके सुखी भी होता है—

मन महँ चरन बन्दि सुख माना।

हम रावणको गाली दे सकते हैं, पर उसमें भी जो अच्छाई है, उसे भक्तलोग देखते हैं। कपटी मारीचमें भी अन्तः प्रेम था, जिसे गोस्वामीजीके शब्दोंमें श्रीरामने पहचान लिया—

अन्तर प्रेम तासु पहिचाना।
मुनि दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना॥

जहाँ हनुमानजीको भगवान् राम दीखते हैं, जहाँ रावणमें भी सद्भाव दीखता है, लोग कैकेयीको गाली देते हैं किन्तु गोस्वामीजीके शब्दोंमें भगवान् राम यह कहते हैं—

जननी दोष देहिं जड़ तेई।
सपनेहुँ साधुसभा नहिं सेई॥

कैकेयीको वे मूर्ख लोग ही दोष लगाते हैं जिन्होंने साधुओंकी सभाका सेवन नहीं किया। कितना उत्कृष्ट चित्रण है यह, जिसमें राग-द्वेषके लिए कोई स्थान ही नहीं।

भगवान् सर्वरूपमें प्रकट हो रहे हैं। आप उनके अवतारको पहचानिये और देखिये उनकी आत्म-माया, जिसके कारण वे अपनी प्रकृतिको अपने वशमें करके अर्थात् अपनी ईश्वरताको छिपाकर छोटा-सा, नन्हा-सा रूप ग्रहण करते हैं।

अब आया कि अवतारका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन दो प्रकारका है। भगवान् अवतार लेते हैं सारी विश्वसृष्टिके लिए भी और व्यक्तिविशेषके लिए भी। उनको इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि 'सर्वस्मिन् सर्वम्'—सबमें सब है। व्यक्तिमें समष्टि है और समष्टिमें व्यक्ति है। व्यक्तमें अव्यक्त है और अव्यक्तमें व्यक्त है। ये दोनों कभी अलग-अलग नहीं होते।

यद यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

इसमें 'धर्मस्य'का तात्पर्य है 'धर्मात्मनः'। अर्थात् जब-जब धर्मात्माओंको ग्लानि होने लगती है। इसी प्रकारका लाक्षणिक अर्थ करना पड़ेगा ग्लानि शब्दका, जिसका प्रयोग धर्मके लिए किया गया है, क्योंकि धर्मको कभी ग्लानि नहीं होती। अतः धर्मसे उपलक्षित धर्मात्माको ग्लानि हो सकती है। ग्लानि एक मनोवृत्ति है। मनुष्यके मनमें जो सुख है, हर्ष है उसका क्षय हो जाये तो उसको कहते हैं ग्लानि। ग्लानि एक संचारी भाव है। साहित्यमें रसके साक्षात्कारके लिए जो संचारी भाव उदित होता है, उसका नाम है ग्लानि। जब धर्मात्माओंके मनमें यह अनुभव होने लगता है कि देखो जो लोग अधर्म करते हैं, वे तो सुखी हो रहे हैं और हमने इतना धर्म किया तब भी हमें दुःख मिला, असफलता मिली और कष्ट सहना पड़ा, तब उन्हें ग्लानि होती है। कोई कष्ट-सहनपूर्वक धर्म करे और उनके मनमें अपने कष्टको देखकर उदासीका भाव उत्पन्न हो तो भगवान् कहते हैं कि अब चलकर धर्मपरायण व्यक्तिके हृदयको उत्थान प्रदान करना चाहिए, ऊपर उठाना चाहिए। जब किसी रोगीकी आँखकी पुतली नीचे होने लगती है तब डाक्टर लोग उसे ऊपर उठा देते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्यका हृदय नीचे गिरने लगता है तब भगवान् उसे पकड़कर ऊपर उठानेके लिए सामने आ जाते हैं और कहते हैं कि ऊपर मेरी ओर देखो। ऐसा तो इस संसारमें मित्रगण भी करते हैं। यदि कोई उदास होकर मुँह लटका दे, नीचे देखने लगे, उसकी आँखोंमें आँसू आये तो उसका जो मित्र या प्रेमी होता है वह उसकी ठोड़ी पकड़कर उसके मुँहको ऊपर उठा देता है और कहता है कि मेरी ओर देखो। इतनेसे ही उस व्यक्तिकी उदासी दूर हो जाती है और वह मुस्करा देता है।

भगवान् कहते हैं कि जब-जब धर्मात्माओंको ग्लानि होती है और अधर्म सिर उठाकर खड़ा हो जाता है अर्थात् अधार्मिक लोग

यह कहने लगते हैं कि मैं ऐसा करूँगा, मेरा इतना बड़ा पद है, ओहदा है, मेरे इतने अनुयायी हैं, इतनी सम्पदा है, मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ, तुम मेरा क्या कर लोगे और अपने जब लौकिक बलके आधारपर धार्मिकोंके ऊपर धावा बोल देते हैं तब-तब मैं प्रकट होता हूँ **अभ्युत्थानमधर्मस्य**में जो अभ्युत्थान है, उसका प्रयोग तब होता है, जब एक राजाकी सेना दूसरे राजाकी सेनापर धावा बोलती है। भगवान् कहते हैं कि ऐसे समयमें मैं अपने आपको भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट करता हूँ।

अब आप फिर देखो अवतारकी बात। शालिग्राम भी भगवान्‌का एक अवतार है। आप लोगोंने सुना होगा श्रीरामानुज-सम्प्रदाय में इसको अर्चावतार मानते हैं। सोचो अगर भगवान् सब न हों तो वे तुलसी कैसे बनेंगे, पीपल कैसे बनेंगे, गंगा कैसे बनेंगे? गंगाजी तो भगवान्‌का प्रत्यक्ष अवतार हैं, ब्रह्म-द्रव हैं। इसी प्रकार मछली, कछुआ, सिंह, घोड़ा, आदि सब रूपोंमें भगवान्‌की अभिव्यक्ति भी उनका अवतार है। अवतारका अर्थ है नीचे उतरकर किसीको ऊपर निकालना। हमने अपने गाँवमें देखा, एक स्त्री पानी भरने कुएँपर गयी। उसका पाँव फिसल गया और वह कुएँमें गिर गयी। जब उसके पतिको पता चला तो वह दौड़ा हुआ आया और बिना सोचे-विचारे कूद पड़ा। उसने अपनी पत्नीको पकड़ लिया और तब पुकारा कि रस्सी फेंको। रस्सी फेंकी गयी और तब दोनोंको ऊपर खींचा गया। अवतारमें जो 'अव' है उसका अर्थ संस्कृतमें नीचे और 'तरण'का अर्थ तैरना होता है। पानीमें डूबे हुओंको निकालनेके लिए भगवान् जलावतार लेते हैं। जब गजेन्द्र पानीमें डूब रहा था तो उसको उबारनेके लिए भगवान्‌ने पानीमें डुबकी लगायी, गजेन्द्रको दोनों हाथसे पकड़ा और ग्राहके साथ ऊपर उठाकर बाहर कर दिया। द्रौपदी जब नंगी की जाने लगी तो उसकी लाज बचानेके लिए भगवान्‌ने वस्त्रा-

वतार ग्रहण किया। वे ऐसे वस्त्र बने कि उनमें और द्रौपदीमें कोई भेद नहीं रह गया। कविको कहना पड़ता—

नारी मध्य सारी है कि सारी मध्य नारी है।
नारी ही की सारी है कि सारी ही की नारी है॥

वेदान्ती लोग अवतार शब्दका जो अर्थ लेते हैं वह बहुत विलक्षण है। सच पूछो तो अवतारके विना वेदान्तियोंका काम ही नहीं चल सकता। मैं वेदान्त-सिद्धान्तका प्रामाणिक पण्डित हूँ। विशेषकर शांकर-सिद्धान्त मेरा अपना विषय है। आप मेरे इस अहंभावकी अभिव्यक्तिको इस अर्थमें लें कि मैं आपके हृदयमें विश्वास पैदा करना चाहता हूँ। आपके विश्वासके लिए यदि मुझे अहंभाव भी प्रकट करना पड़े तो वह अनुचित नहीं। आप देखें कि ब्रह्म आपको मुक्त कर सकता है? अथवा आपका बन्धन काट सकता है? यदि ब्रह्म ऐसा कर सकता तो अबसे बहुत पहले बन्धन काट देता और मुक्ति दे देता।

वास्तवमें जैसे भक्तोंके लिए वरदानके निमित्तसे भगवान्‌का अवतार होता है वैसे ही महावाक्यके निमित्तसे जब हमारी चित्त-वृत्तिमें परब्रह्म परमात्माका अवतार होता है तब वह अवतीर्ण परमात्मा ही अविद्याका नाश करता है। परमात्मा अपने स्वरूपमें रहता हुआ अविद्याका नाश नहीं करता। जब वह वृत्त्यारूढ़ चेतनके रूपमें अवतरित होता है तभी हमारी अविद्याको निवृत्त करता है। जिसको वेदान्तका संस्कार हो वह इस बातपर ध्यान दे। ब्रह्मह्रदमें उतरनेके लिए, ब्रह्मके महासमुद्रमें अवतरणके लिए जो सोपानका—सीढ़ीका काम देता है उसीको अवतार बोलते हैं। अवतार माने बड़ी भारी गहराईमें उतरनेका साधन। विषयोंसे गहरी इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे गहरा अन्तःकरण, अन्तःकरणसे गहरा साक्षी और साक्षीसे गहरे अद्वितीय परब्रह्मके साक्षात्कारके लिए

परमात्माके अवतारकी आवश्यकता होती है। जब परमात्मा कौशल्याके राम बनते हैं, देवकीके कृष्ण बनते हैं और हमारी वृत्तिमें आरूढ़ चेतन बनते हैं तब वे हमारे बन्धनको काटते हैं, अविद्याको निवृत्त करते हैं। अवतारके बिना तो अविद्याकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसी सिद्धान्तको प्रकट करनेके लिए उसको वेदान्तमें आरूढ़-चेतन और भक्तिमें अवतार बोलते हैं। अवतारकी मान्यताके बिना, भक्ति सिद्धान्तके द्वारा, वेदान्तकी व्याख्या नहीं हो सकेगी। अवतार ही उसकी मूल पृष्ठभूमि है। एक बात और है। आप लोग इससे डरें नहीं। जीव और ईश्वर दोनों भाई-भाई हैं। इनमें यह बँटवारा हुआ था कि रूप ईश्वरके पास रहेगा और नाम जीवके पास। ईश्वरने अपने रूपोंको अब नामके अधीन कर दिया और जीवसे कहा कि जब तुम नाम लेकर पुकारोगे तो रूप हाजिर हो जायेगा। यही है अवतारकी प्रक्रिया। जितने गुण जीवमें होते हैं उतने ही भगवान्में भी होते हैं। हाँ, उतने ही—न कम न ज्यादा, गिनतीमें बराबर-बराबर। क्योंकि दोनों एक ही तत्त्व हैं। जीव उसको कहते हैं जो गुण-दोषोंको मैं-मेरा मानकर स्वीकार कर लेता है और ईश्वर उसको कहते हैं जो इन गुण-दोषोंके प्रकट होनेपर भी अपने ज्ञानका बाध नहीं करता। गुण-दोष उसकी मायामें दीखते रहते हैं और वह सर्वज्ञ बना रहता है। इसलिए हम देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी माया का दूध उसी प्रकार पीना चाहते हैं जैसे जीव पीना चाहता है। वे दूधके लिए वैसे ही रोते हैं जैसे जीव रोता है। जैसे जीव कभी गुस्सेमें आकर गड़बड़ी करता है तोड़-फोड़ कर देता है वैसे ही श्रीकृष्ण भी करते हैं। जैसे जीव भागता है वैसे ही ईश्वर भी भागता है। जैसे जीव पकड़ा जाता है वैसे ही ईश्वर भी पकड़ा जाता है। जैसे जीव बँधता है, भय खाता है, पलायन करता है वैसे ही ईश्वर भी करता है, जैसे उसका कोई

बन्धन नहीं मैय्या बाँधती है तो बँध जाता है, खोलती है तो खुल जाता है, वैसे ही जीव भी निर्बन्ध है। जीव जो-जो करता है ईश्वर वही वही करेगा तो उन दोनोंमें बराबरी नहीं होगी। यदि बराबरी नहीं होगी तो दोनों एक साथ कैसे रहेंगे ? दोनोंकी एकता होनेके लिए बराबरी भी आवश्यक है। अन्तर केवल इतना है कि जीवमें गुण-दोष अविद्यासे हैं और ईश्वरमें मायासे हैं। जब माया और अविद्याका पर्दा अलग करके देखते हैं तो दोनों एक हैं। इसलिए जब हम जीवका जन्म उसके कर्मानुसार मानते हैं तो भगवान्‌का जन्म भी उनकी स्वेच्छासे मानना पड़ेगा। ईश्वरकी तरह जीव भी निराकार है। उसको साकार सिद्ध करने वाला सृष्टिमें कोई है नहीं। जिस प्रकार निराकार जीवका जन्म सिद्ध हो सकता है उसी प्रकार निराकार परमात्माका जन्म भी अवश्य हो सकता है—

**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।**
**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ (४.९)**

भगवान्‌का जन्म दिव्य है और जीवका जन्म कार्मिक है। भगवान्‌के जन्मको दिव्यता जान लेनेपर जीव भी दिव्य हो जाता है। इसलिए क्यों न हम भगवान् के जन्म-कर्मकी दिव्यताका ज्ञान प्राप्त करें। उसके द्वारा स्वयं भी अपने जन्म, कर्मके बन्धनसे छूट जायें। गीता हमारा मार्ग-दर्शन करनेके लिए प्रस्तुत है। वह ऐसी विद्या है जो हमारी हीनता, घृणा, ग्लानि, पाप-ताप, अज्ञान और दुःखादिको ध्वस्त करके हमें परमेश्वरके साथ एका-कार कर सकती है।

•

## प्रवचन–९

( २४–११–'७४ )

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥**

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—**आत्मानं सृजाम्यहम्** मैं अपनी सृष्टि करता हूँ। यह सृष्टि किसी दूसरेकी नहीं आत्माकी है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर प्रकृत नहीं, पञ्चभूतका बना हुआ नहीं। वे प्रकृतिसे करते हैं वशमें और आत्म-संकल्पसे करते हैं सृष्टि। माया शब्दका अर्थ आचार्य रामानुजने ज्ञान किया—**माया तु वयुनम् ज्ञानम्**। माया शब्दका अर्थ संकल्प भी है। **स्वां प्रकृतिम् अधिष्ठाय** में जो प्रकृति है वह सांख्यमें वर्जित जड़ प्रकृतिसे भिन्न है। सांख्यकी जड़ प्रकृति तो अनियन्त्रित है, ईश्वरके अधीन नहीं, किन्तु गीतामें जिस प्रकृतिका वर्णन है वह ईश्वराधीन है। **मया भूतं सचराचरम्**—भगवान्ने अपनी प्रकृतिको वशमें करके, स्वसंकल्पसे अपने आपको ही व्यक्तिके रूपमें प्रकट किया। इसलिए श्रीकृष्णका व्यक्तित्व सच्चिदानन्दघन है। सच्चिदानन्दघनका अर्थ है निर्विकार। श्रीकृष्ण निर्विकार हैं। भागवतमें इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर है !

**तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम्।**
**आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं गतोऽबुधः ॥**

मूर्ख लोग श्रीकृष्णको विकारी मानते हैं किन्तु विद्वान् निर्विकार मानते हैं—

**अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।**
**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥**

श्रीकृष्णके अव्यय भावको न जाननेके कारण ही लोग उनको व्यक्ति मानते हैं—

**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्** ( ९.११ )

मनुष्यके समान जूझते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं। यह बात **आत्मानं सृजाम्यहम्**से स्पष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह कि श्रीकृष्णकी आत्माका जो स्वरूप है वही उनके शरीरका भी है। श्रीरामानुजाचार्यने यह प्रश्न उठाया **किमात्मिका भगवतोऽभिव्यक्तिः**—भगवान्की अभिव्यक्ति क्या होती है? जो भगवान् है वही भगवान्का व्यक्तित्व है। **किमात्मको भगवान्? यदात्मिका अभिव्यक्तिः।** जैसी उनकी अभिव्यक्ति है वैसे ही भगवान् हैं और जैसे भगवान् हैं वैसी ही उनकी अभिव्यक्ति है। ऐसे श्रीकृष्णको आप पहचान लें तो परब्रह्मको पहचान लेंगे। निर्विकार तत्त्व ही श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुआ है।

अब भक्त लोगोंने भगवान्के सम्बन्धमें जो भाव प्रकट किये हैं उनमें-से कुछको सुनाये बिना आगे बढ़ना कठिन है। वे कहते हैं कि साधु-परित्राणके लिए अर्थात् साधुओंकी रक्षाके लिए भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। रक्षा कौन-सा ऐसा काम है, जिसके लिए भगवान्को अवतार लेना पड़े। वे चाहें तो उनमें इतना सामर्थ्य है कि साधुओंको कष्ट पहुँचानेवालोंको पैदा ही न करें। यदि कष्ट पहुँचानेवाले पैदा भी हों तो भगवान् उनका मन मोड़कर उन्हें साधुसेवी बना सकते हैं। यदि मनको न मोड़े तो दुष्टोंकी दुष्टताका महाप्रलय कर सकते हैं। इसके लिए अवतार लेनेकी क्या

आवश्यकता है ? यह हुआ भक्तोंका भाव। वे भगवान्‌को अपने लिए तनिक भी कष्ट देना नहीं चाहते।

भगवान् साधुओंकी रक्षाके लिए अवतार लेते हैं। साधु माने सज्जन। गीतामें साधु शब्दका प्रयोग है—

**सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।** ( १७.२६ )

यहाँ साधु शब्दका प्रयोग किसी सम्प्रदाय, मजहब अथवा वेशभूषाके लिए नहीं। साधु तो गृहस्थ और वेशधारी सभी होते हैं। वेशधारी होकर साधुताका आचरण न रखते हों वे केवल वेशधारण करने मात्रसे साधु नहीं हो सकते। किन्तु वेशधारी न हों और उनके हृदयमें साधुता हो तो वे साधुओंसे भी बढ़कर हैं। वैयाकरणोंने साधु शब्दका अर्थ यह माना है कि जो परोपकार-परायण हो वह साधु है। उनकी व्युत्पत्तिके अनुसार तो जो दूसरोंका काम बना दे, सिद्ध कर दे, उसका नाम साधु है—**साध्नोति पर-कार्यम्** इति। साधुओंकी रक्षाके प्रसंगपर वैष्णवचार्योंने बड़े सुन्दर-सुन्दर भाव व्यक्त किये हैं। वे कहते हैं कि साधु श्रीकृष्णके तृष्णा-तत्त्व हैं। साधुके रूपमें श्रीकृष्णको तृष्णा प्रकट हुई है। श्रीकृष्णके दर्शनकी प्यास साधु बनकर आयी है। श्रीकृष्ण अपने स्थानसे कंस, शिशुपाल और जरासन्ध आदिका नाश करा सकते हैं। यह काम वैकुण्ठ और गोलोकसे भी हो सकता है, उनके संकल्पसे भी हो सकता है। भीमसेन, अर्जुन, बलरामसे भी हो सकता है। परन्तु यशोदाके मनमें जो भगवान्‌की माता बननेकी लालसा है, यह लालसा लेकर जब वे परमेश्वरके सामने प्रार्थना करती हैं कि 'प्रभो ! तुम आओ हमारी गोदमें, हमारे बच्चे बनो, हमारा दूध पीओ, मैं तुम्हें चूँमू, तुम्हारे शरीरमें ऊबटन लगाऊँ, तेल लगाऊँ, तुम्हें बघनखा पहनाऊँ, माखन खिलाऊँ—इसको कौन निर्गुण-निराकार भगवान् पूरा करेगा ? यह लालसा तभी पूरी

होगी जब भगवान् बालक बनकर यशोदाकी गोदमें आयेंगे। नन्दबाबा जब बालक श्रीकृष्णको कन्धेपर लेकर नाचने लगते हैं और वे उनकी दाढ़ी पकड़कर खींचते हैं, उनकी नाकमें उँगली डालते हैं, तब यह लीला क्या वैकुण्ठनाथ अथवा गोलोकनाथसे सम्पन्न हो सकेगी? इसके लिए तो उन्हें नन्द, यशोदाकी गोदमें आना ही पड़ेगा। इसके बिना नन्द-यशोदाको वात्सल्य-सुख सम्बन्धी आकांक्षाकी रक्षा हो नहीं सकती। यदि भगवान् अपने भक्तोंकी लालसाका भक्षण नहीं करते तो यही कहना पड़ेगा कि उनके जो कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु आदि नाम हैं वे बिलकुल झूठे हैं। सचमुच भगवान्की पूर्णता इसीमें है कि वे अपने भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करें। भागवतमें गोपियोंका वर्णन है कि वे क्या हैं? श्रीकृष्ण-दर्शनकी लालसा ही मूर्त होकर गोपियोंके रूपमें प्रकट है। आप यह मत देखिये कि गोपी ग्वालिन है। प्रत्युत यह देखिये कि श्रीकृष्ण-दर्शनकी प्यास, व्याकुलता, उत्कण्ठा मूर्तिमान होकर गोपीके रूपमें प्रकट हुई। साधुओं और महात्माओंके रूपोंमें जो भगवत्प्राप्ति-तृष्णा मूर्तिमान होकर रहती है उसकी रक्षाके लिए भगवान्को अवतार ग्रहण करना पड़ता है। यह ऐश्वर्यसे बड़ी वस्तु है। ऐश्वर्य तो यशोदा माताने श्रीकृष्णके मुखमें तब देखा था जब श्रीकृष्णने दूध अधिक पी लिया। पहले तो यशोदा माताके मनमें दूध पिलानेकी लालसा थी और जब श्रीकृष्ण अधिक पीने लगे तब यह आशंका हुई कि कहीं अपच न हो जाये—अजीर्ण न हो जाये। वास्तवमें स्त्रीकी पूर्णता, उसके जीवनका साफल्य केवल सौन्दर्य—सद्गुणवती पत्नी होनेमें नहीं, उसकी पूर्णता—उनके सौभाग्यकी परिणति तो मातृत्वमें है। स्त्रीका एक होता है रूप-सौन्दर्य और दूसरा होता है—सौभाग्य-सौन्दर्य। रूप-सौन्दर्य भोग्य है और सौभाग्य-सौन्दर्य प्रदाता है। जिस माताके शरीरका दूध पुत्रके पेटमें नहीं गया

उसका सौभाग्य-सौन्दर्य अधूरा ही रहेगा। उसका रूप-सौन्दर्य सफल हुआ परन्तु सौभाग्य-सौन्दर्य सार्थक नहीं हुआ। देखो स्त्री-पुरुषकी अपनी एक परम्परा है जो उनके माता-पितासे प्राप्त होती आ रही है। वहाँसे एक संस्कार आ रहा है, एक बीज आ रहा है। यदि माता उसे अपने पुत्रके पेटमें नहीं डालेगी, बाहरका ही संस्कार पुत्रके पेटमें पड़ेगा और उसीसे उसका संवर्द्धन होगा तो वह बड़ा होने पर यदि आज्ञा पालन न करे और कह दे कि तुमने मुझे कौन-सा अपना दूध पिलाया है, तो इसका क्या जवाब है। अतः अपने रक्तसे, अपने बीजसे, अपने संस्कारसे पुत्रका जो संबर्द्धन है वही स्त्रीका सौभाग्य-सौन्दर्य है और वह मातृत्वमें ही पूर्ण होता है।

यशोदा माता जो अपना दूध श्रीकृष्णको पिलाती हैं वह भगवान्‌को अर्पित होता है। वह दूध बाहरका नहीं, गायका भी दूध नहीं, अपितु उनका अपना दूध है। यशोदा माता पिलाना जानती हैं और छुड़ाना भी जानती हैं। जब छुड़ाना चाहती हैं तब उनके रुचिर, स्मित मुखारविन्दका अवलोकन करती हैं, चुम्बन करती हैं। वे स्वयं मुस्कराती हैं और श्रीकृष्ण भी मुस्कराते हैं। श्रीकृष्ण समझाते हैं कि मैया हितकी भावनासे अजीर्णकी आशंका करती है परन्तु फिर भी भगवान्‌ने अपने मुखमें विश्वासका दर्शन करा दिया—

विश्वं विभागिपयसो—न च केवलोऽहम्।

श्रीकृष्णका तात्पर्य मैयाको डराना नहीं अपितु यह है कि मेरे रूपमें सारी सृष्टि दूध पी रही है। इसका अर्थ यह भी है कि माता जब अपने बच्चेको दूध पिलाती है तो केवल अपने बच्चेको ही नहीं बल्कि विश्वके एक नागरिकको दूध पिलाती है। उसके द्वारा केवल उसका बेटा नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्वसृष्टि ही सम्वर्द्धित होती है।

अब श्रीकृष्णने अपना ऐश्वर्य दिखाकर जब दूसरी बार माताको आश्चर्यचकित करना चाहा तो उन्हें यह ध्यान आया कि मैया कहीं ईश्वर समझकर हाथ न जोड़ने लगे। अतः उन्होंने अपना ऐश्वर्य समेट लिया और फिर बालक बनकर माताका दूध पीने लगे। यह प्रसंग आता है कि ऐश्वर्य-दर्शन करनेके पश्चात् भगवान्ने पुत्र-स्नेहमयी यशोदा मैय्याको अपनी स्वजन-मोहिनी माया प्रदान की, और वे फिर श्रीकृष्णको पुत्र मानकर दूध पिलाने लगीं। ईश्वरका रूप बड़ा है या पुत्रका? यशोदा माताको ईश्वरके रूपसे सन्तोष नहीं हुआ। वे श्रीकृष्णको पुत्रके रूपमें प्राप्त करके ही सन्तुष्ट हुईं। कभी-कभी ईश्वरका भी साधारणीकरण होना चाहिए। वह हमारा भाई, पुत्र, मित्र और प्रियतम हो। उसे अपनेसे बहुत दूर रखकर हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते। जिन-जिन लोगोंने ईश्वरको बहुत दूर रखा है उनके यहाँ भक्ति-भावनामें न्यूनता दिखायी पड़ती है। निराकारवादी ईश्वरका कितना भक्त होगा? कितना प्रेम करेगा? वहाँ तो प्रेम रसका उद्भव ही नहीं होगा।

भक्तजनोंके परित्राणके लिए भगवान्को बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। तीन बार तो देवकी, अदिति और पृश्निके गर्भसे ही प्रकट हुए। न तो उनको माँ बनानेसे तृप्ति होती है और न माताओंको उन्हें पुत्र बनानेसे। यह अतृप्ति भी तो एक तत्त्व है। अर्जुन बड़े ज्ञानी, योद्धा और वीर थे। परन्तु उन्होंने गीता सुनते-सुनते कह दिया कि मुझे तृप्ति नहीं हो रही है—

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्। (१०.१८)

मैं आपके वचनामृतको कानके प्यालेसे पीते-पीते तृप्त नहीं हो रहा। जैसे हम वन्स मोर (Once more) कहते हैं वैसे ही अर्जुनने भूयः कथय कहा, अर्थात् फिर कहो, फिर कहो। तात्पर्य यह कि

भगवान् बार-बार अवतार लें और हमारे मित्र, हमारे प्रियतम बनते रहें। एक भक्तने तो कहा—

हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे।

हाय-हाय, हमारे जीवनमें वह समय कब आयेगा, जब, हम अपनी इन्हीं आँखोंसे तुम्हारे चरणोंके दर्शन करेंगे। भगवान् भी अपने भक्त महात्माओंके पेटमें रहने, दूध पीने, उनका प्यार पाने, उनके कन्धोंपर हाथ रखने ओर उनके वक्षःस्थलसे लगनेके लिए लालायित रहते। साधु-महात्मा भी चाहते हैं कि भगवान् हमारे सजातीय होकर आयें, तभी उनसे हमारा अधिक प्रेम होगा। क्योंकि विजातीयसे प्रेम कुछ कम होता है, सजातीयसे अधिक होता है। अतः तुम मनुष्य बनकर आओ, तभी हम तुमसे प्रेम करेंगे। जब भगवान्को अपने प्रेमी साधुओंका मनोरथ पूरा करनेके लिए आना पड़ता है तब उनके जो प्रतिपक्षी हैं, विरोधी हैं उनको भगानेका काम भी करना पड़ता है। आप जानते हैं गीतामें मौत नामकी कोई चीज है ही नहीं। मृत्युको दो कौड़ीकी कीमत भी दी हो ऐसा नहीं लगता। कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय<br>नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। ( २.२२ )

मृत्यु क्या है ? पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़े पहन लेना है। इसलिए भगवान्ने जब साधु संत्रासक दुष्ट राक्षसों, दानवों और आसुरी सम्पदावालोंको देखा तो उन्होंने यह नहीं कहा कि ये बुरे हैं। कहा कि इन्होंने दुष्कर्मका चोला पहन रखा है, वह गन्दा है।

भगवान् जो दैत्योंको मारते हैं वह कोई हिंसा नहीं। केवल दैहिक दृष्टिसे हिंसा मालूम पड़ती है। जो लोग इस देहकी हड्डी, मांस, चामके अत्यन्त प्रेमी हो गये हैं उनके लिए मृत्यु बहुत बड़ी

वस्तु मालूम पड़ती है। भगवान्के लिए उसका कोई मूल्य नहीं। इसलिए उनका मारना, कपड़े बदलवा देने जैसा ही है। भगवान् जीवात्माके संहारमें भी श्रृङ्गार करते हैं। उनकी दृष्टिमें देहकी नहीं जीवात्माकी कीमत है।

**विनाशाय च दुष्कृताम्**—संस्कृतमें विनाश शब्दका अर्थ—दृश्यको बदल देना होता है। णश्-आदर्शने धातु है जिसका अर्थ है जैसा दीख रहा है उसको परिवर्तित कर देना।

**धर्मसंस्थापनार्थाय**—मनुष्यमें मनुष्यता बनी रहे, वह न देवता होना है और दानव होना है। देवता भोगी होता है और दानव क्रूर होता है। आपने कभी उपनिषदोंके प्रवचनोंमें सुना होगा एकबार मनुष्य, देवता और दानव तीनों प्रजापतिके पास गये और बोले कि उपदेश कीजिये ( द्र० वृहदारण्यक ५.२ ) प्रजापतिने उपदेश किया—'द' और पूछा कि तुम लोगोंने क्या समझा ? दैत्योंने कहा—समझ गये ! हम लोग बहुत क्रूर हैं इसलिए आपने कहा कि दया करो। देवता बोले—हम लोग बहुत भोग करते हैं इसलिए आप कह रहे हैं—दमन करो। इन्द्रियोंका संयममें रखो। मनुष्योंने उत्तर दिया—आप कह रहे हैं कि तुम दान करो। क्योंकि हमलोग संग्रही हैं। इसमें संग्रह करनेका लोभ बहुत है। काम अधिक है देवतामें, क्रोध अधिक है दैत्यमें और लोभ अधिक है मनुष्योंमें। यह इन सबकी पहचान होती है।

मनुष्य देवता बनेगा तब भी धर्मच्युत होगा और दानव बनेगा तब भी धर्मच्युत होगा। इसलिए मनुष्यको मनुष्य होकर ही रहना चाहिए। मनुष्यकी रक्षा करनेवाली वस्तु है निर्लोभता। जो निर्लोभ रहेगा वही मनुष्यताकी रक्षा कर सकेगा !

भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन क्या हुआ ? धर्मसंस्थापनार्थाय मनुष्यको मनुष्यके धर्ममें स्थापित करना। जब हम ब्राह्मणको ब्राह्मणके धर्ममें, क्षत्रियको क्षत्रियके धर्ममें, वैश्यको वैश्यके धर्ममें और शूद्रको शूद्रके धर्ममें, स्थापित करें तभी धर्मका संस्थापन होता है। हमारा ऐसा बोलना भारतीय दृष्टिसे, वैदिक संस्कृतिकी दृष्टिसे बहुत ठीक है। इसमें कोई दोष नहीं। परन्तु भगवान्‌की वाणी, केवल भारतवर्षके लिए नहीं होती। भगवान्‌को केवल भारतवर्षका मानना उनको छोटा बनाना है। यह मानना कि भगवान् केवल वर्णाश्रम-धर्मानुयायियोंके लिए बोलते हैं, उचित नहीं। जो भारतवर्षके बाहरके हैं, और वर्णाश्रमी नहीं वे क्या भगवान्‌से वंचित हैं? वे भी भगवान्‌के हैं और उन सबके लिए भी भगवान् बोलते हैं। भगवान्‌की वाणीकी यही पहचान है कि उससे सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी सबका भला हो, सबके भीतर सद्भाव; चिद्भाव आनन्दभावकी प्रतिष्ठा हो। भगवान् सबको अपने आपका दान करते हैं। इसलिए धर्म-संस्थापनका अर्थ है पशुमें पशु-धर्म रहे, पक्षीमें पक्षीधर्म रहे और वृक्षमें वृक्ष-धर्म रहे, ये सब प्रसन्न रहें और फूलें-फलें। भगवान् सबमें और सबके धर्मोंका संस्थापन करते हैं।

आपने देखा होगा श्रीमद्भागवतमें वृन्दावनके वृक्षोंकी कितनी प्रशंसा है—

**अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम्।**

(भा० १०-२२-३३)

कहते हैं कि इनके सामने चाहे अनजाने कोई भी आ जाये तो वह खाली हाथ नहीं लौटता। वृक्षमें यह धर्म है कि वह छाया देता है, सुगन्ध देता है, हवा देता है अपना फल-फूल देता है, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व दे देता है। किसलिए ? मनुष्योंके भलेके

लिए। भगवान् कहते हैं कि इन वृक्षोंके सामने तो मनुष्योंकी सारी शान फीकी पड़ जाती है। वे अपना फल-फूल लेकर श्रीकृष्णके चरणोंमें झुक जाते हैं और सिद्ध करते हैं कि वे भी भगवान्‌के भक्त हैं। भगवान् इन वृक्ष-वनस्पतियोंके हृदयकी भक्ति जागृत करनेके लिए भी अवतार लेते हैं।

धर्मस्थापनका अर्थ पशु-पक्षियोंमें भी भक्तिभावनाकी स्थापना करना है। भागवतमें तो इसके इतने उदाहरण हैं कि मैं उनमें रम-कर गीता सुनाना भूल गया हूँ।

पक्षी वृक्षोंपर बैठकर श्रीकृष्ण भगवान्‌का दर्शन करते हैं। मोर नाचता है, गाय घास चरना भूल जाती है, नदीका प्रवाह स्तम्भित हो जाता है, ये सब-के-सब समझते हैं कि हम भगवान्‌की सेवाके लिए हैं। क्योंकि इन सबमें भक्तिभाव जागृत करनेके लिए भगवान्‌का अवतार है। धर्म-संस्थापनका अभिप्राय इस कर्म-काण्डका उपदेश नहीं कि हमें दातुन कैसे करना चाहिए, हाथमें मिट्टी कैसे लगानी चाहिए और कपड़ा कैसे पहनना चाहिए? यदि यही सब बतानेके लिए भगवान्‌का अवतार होता हो तो वह संकीर्ण ही कहा जायेगा, इसके लिए ब्राह्मण लोग ही बहुत काफी हैं। भगवान् तो सम्पूर्ण प्रकृतिमें धर्मसंस्थापनके लिए प्रकट होते हैं।

**धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।**

इसमें जो 'युगे युगे' है इसका क्या तात्पर्य है? संस्कृतमें 'युग' शब्दका अर्थ होता है दो। युगमें दो क्या है? युग कालका एक अवयव है—कलियुग है, द्वापर है, त्रेता है, सत्ययुग है। युगमें एक तो काल होता है और दूसरे भगवान् होते हैं। जब सृष्टिमें कालकी प्रधानता हो जाती है और लोग भगवान्‌को भूल जाते हैं तब भगवान् अपनेको कालके साथ जोड़कर प्रकट होते हैं। जिससे कि

लोग उन्हें कालमें देख सकें। युगे-युगेका अर्थ है कि वे समयपर भी प्रकट होते हैं और असमयमें भी प्रकट होते हैं। उस समय भी प्रकट होते हैं जिसका उल्लेख शास्त्रोंमें नहीं। उन्होंने जो मीरा, सूर, तुलसी आदि भक्तोंको दर्शन दिया वह 'युगे-युगे'में कहाँ दिया वह तो सब-का-सब 'अयुगे' हुआ है। तो भगवान् अयुगमें भी अवतार लेते हैं और एक भक्तको सन्तुष्ट करने, सुख देनेके लिए भी प्रकट होते हैं। फिर उस अवतारको समेट भी लेते हैं। इसके 'भवामि' शब्दमें भी केवल भवामि नहीं, संभवामि है। भवामिका अर्थ है 'हो जाता हूँ'। यदि कोई कहे कि भगवान् अपना एक अंश फेंक देते होंगे तो ऐसी बात नहीं। भवामिके साथ 'सं' उपसर्ग लगा है जिसका अर्थ है 'सम्यक् भवामि' अर्थात् पूर्ण एवं पूर्णतम अवतार ग्रहण करता हूँ। साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही अवतार लेता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णको **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्** (१.३.२८) और महारामायणमें श्रीरामको **रामस्तु भगवान् स्वयम्** कहा है। दोनों ही साक्षात् भगवान् हैं। असलमें भक्ति तब होगी, जब हमारे सामने व्यक्ति दीखे तो छोटा-सा, किन्तु उसको देखकर हमारी बुद्धि महान् हो जाये। उपासनाका रहस्य लोगोंके ध्यानमें नहीं आता। आप देखें तो पत्थरकी मूर्ति और आपके हृदयमें प्रकट हो जाये ज्योतिर्मय चेतन। देखें कुछ और, भाव बने कुछ और तब उपासना होती है। जैसा दिखायी पड़े, वैसा ही भाव बने—यह तो विज्ञान है, साइन्स है। भक्ति-भावना यह है कि दीखे तो माता, और मानो उसे जगज्जननी, दीखे पिता और मानो उसे परमेश्वर, दीखे मूर्ति और मानो उसे चेतन, इसीका नाम उपासना है। उपासनामें हमारे हृदयका भाव कैसे बन रहा है, उसका निमित्त क्या है, इसपर दृष्टि नहीं रहती। हम पीपलके पेड़ और तुलसीके पौधोंको देखते हैं, किन्तु ध्यान करते हैं पीपलके माध्यमसे भगवान् वासुदेवका और तुलसीके माध्यमसे साक्षात् जगज्जननी

जगदम्बाका। तुलसी भगवत्प्रेयसी हैं, इतनी बड़ी प्रेयसी कि एक वार लक्ष्मीजीको उनसे सौतियाडाह हो गया। उन्होंने तुलसीजीको शाप दे दिया कि 'जाओ तुम पौधा हो जाओ।' भगवान्‌ने सुना तो कहा कि 'अच्छा; तुलसी पौधा तो मैं पत्थर।' यह कहकर भगवान् स्वयं शालिग्राम वन गये। वोले—कि 'तुलसीके बिना मैं भोजन नहीं करूँगा।' तवसे तुलसी शालिग्रामपर चढ़ने लगी। एक कविको विनोद सूझा तो वह कह उठा—

**आठों पहर चौंसठ घड़ी ठाकुर पर ठकुराइन चढ़ी।**

भगवान्‌ने कहा लक्ष्मीजी साथ हों या न हों मैं सीताराम वनूँ या राधाकृष्ण, परन्तु जब मेरा भोग लगेगा तव मैं तुलसीके साथ हो खाऊँगा।' यह देखो भगवान्‌का दाम्पत्य-प्रेम—

**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।**
**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (४.९)**

भगवान् कहते हैं कि मेरा जन्म और कर्म दिव्य है। दिव्य कहनेका तात्पर्य यह है कि मेरा जन्म न तो कर्माधीन है और न किसी कर्मका फल है। जैसे हमारा शरीर पाञ्चभौतिक होता है और हम अपने वासनामय स्वरूपको स्वप्नमें प्रकट करके देखते हैं, भगवान्‌में नहीं। द्युति, स्तुति, मोद, मद, कान्ति, स्वप्न, गति—ये सारे ही अर्थ दिव्य शब्दमें भरे हुए हैं। दिव्य माने जगत्‌से विलक्षण। जगत्‌के पाप-पुण्य और सुख-दुःख आदिसे रहित। इंट पत्थरका नाम संसार नहीं, मेरा-तेराका नाम ही संसार है। शङ्कराचार्यने भी संसारकी व्याख्या यही की है—

**कर्तृत्व-भोक्तृत्व-लक्षणः संसारः।**

हमने यह किया है और हम यह भोग रहे हैं, इस भाव अथवा भ्रमका नाम ही संसार है। सांख्यवादी कहते हैं कि मेरा-तेरा मानना ही संसार है। भागवतमें आया कि 'मम' और 'न मम'में

जो क्रमशः दो एवं तीन अक्षर हैं, इनमें दो अक्षर मौत है और तीन अक्षर अमृत है। यदि आपको अमृत पीना हो तो तीन अक्षर अपने साथ रखिये न मम—मेरा नहीं। यदि मौतके चक्करमें फँसना हो तो दो अक्षर अपने साथ रखिये, मम—मेरा।

**एवं यो वेत्ति तत्त्वतः देहं पुनर्जन्म नैति।**

केवल देहके अहम्-भावको छोड़ देनेसे ही जन्मकी प्राप्तिका निवारण हो जाता है। **त्यक्त्वा देहं** माने **देहाभिमानं त्यक्त्वा**—देहमें जो अभिमान है उसको छोड़ देना और फिर पुनर्जन्मसे छुटकारा पाना।

अब इसके बाद बताया कि ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीनों भगवान्‌की ओर ले जानेवाले हैं **वीतरागभयक्रोधाः**में ज्ञान है। **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**में भक्ति है और **काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं**में कर्म है। आप कर्म कीजिये, परन्तु कर्म किसके लिए हो रहा है इसका ध्यान रखिये। कर्ममें सारे दोष तभी हैं जब हम उसके फलको अपनी ओर खींचते हैं। जहाँ स्वार्थ आयेगा वहाँ कर्म बिगड़े बिना नहीं रहेगा। चाहे उसका स्वरूप कितना भी उत्कृष्ट क्यों न हो। आप बहुत बड़े हैं, आपमें बड़े-बड़े गुण हैं—**श्लाघ्या ये गुणीनां गुणाः।** आपमें बड़ा विनय है। आप बड़े विवेकी हैं। लोगोंके साथ बड़ा सद्व्यवहार करते हैं। इन सब गुणोंकी प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी। परन्तु प्रश्न हुआ कि इन सद्गुणोंका उद्देश्य क्या है? इनसे स्वार्थ सधता है, काम बनता है? बस, ये स्वार्थ एवं लाभ ही बड़े-बड़े सद्गुणोंको कलुषित बना देते हैं। जिस प्रकार श्वेत कुष्ठ एक सुन्दर एवं स्वस्थ शरीरको भी विकृत कर देता है, उसी प्रकार स्वार्थ एवं लोभकी प्रधानता आ जानेसे ऊँचे-से-ऊँचे सद्गुण भी मलिन एवं त्याज्य हो जाते हैं। तब कर्ममें विशेषता क्या है?

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। ( ४.१२ )

मनुष्यका ज्ञान पवित्र तभी होता है जब उसका उपयोग सर्वात्मा और हृद्देशस्थ परमेश्वरके लिए हो। आप जब ईश्वरको दोनों ओर देखेंगे तब काम चलेगा। एक ओर देखा हुआ ईश्वर अधूरा है। जो ईश्वर केवल हृदयमें ही दीखता है बाहर नहीं दीखता, वह अधूरा है। ईश्वर किसी मन्दिर या हृदयकी गुहामें बन्द रखनेके लिए नहीं। इसी प्रकार जो ईश्वर केवल बाहर ही दीखता है भीतर नहीं दीखता, वह भी अधूरा है। बाहरका ईश्वर लेता है पवित्र सेवा और भीतरका ईश्वर लेता हैं पवित्र भाव—**भोक्तारं यज्ञतपसाम्** यज्ञ और तपस्या दोनों ईश्वरको चाहिए। आप श्रम कीजिये और उसके द्वारा ईश्वरकी सेवा कीजिये। ईश्वरकी सेवाके लिए संयम रखिये और हमेशा यज्ञ कीजिये। आप अपने घरका भोजन जब दूसरोंको खिलायेंगे तब वह यज्ञ हो जायेगा। स्वयं थोड़ा खाकर रह जायेंगे तथा अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखेंगे तो तपस्या हो जायेगी। भगवान् हमारे जीवनमें तपस्याका उपभोग भी करता है और दूसरोंके लिए किये हुए कर्ममें यज्ञका उपभोग भी करता है। वह बाहर बैठकर हमारे यज्ञको स्वीकार करता है और भीतर बैठकर हमारी तपस्याको स्वीकार करता है।

आपको एक छोटी-सी घटना सुनाता हूँ। हमारे गाँवके पास एक वयोवृद्ध राजपूत थे। उन्होंने कभी पञ्चम-जार्जसे हाथ मिलाया था। वे बुढ़ापेमें मसनद लगाकर बैठते और गुड़गुड़ी पीते रहते थे। पुराने जमानेके रईस थे; पर गरीब हो गये थे। स्वयं भूखे रह जाते पर दूसरोंको खिलाते। एक दिन वे मुझे भोजन करा रहे थे। मैंने उनसे कहा—बाबू साहब! दूसरेको खिलाकर खानेमें बहुत आनन्द है। वे बोले—नहीं पण्डितजी, दूसरेको खिलाकर

खानेमें मजा नहीं, असली मजा तो है दूसरेको खिलाकर भूखे रह जानेमें। इसका मुझे अनुभव है। इसमें जो आनन्द आता है वह खिलाकर खानेमें कभी नहीं आता। उनकी बात बड़ी बढ़िया थी, माननी पड़ी और अबतक मुझे उसका स्मरण है।

योग-दर्शन भाष्यके विज्ञान भिक्षु टीकामें एक टिप्पणी है, लिखा है कि 'जीवको आनन्द आता है खानेमें और ईश्वरको आनन्द आता है खिलानेमें।' अतः यदि आप जीवका आनन्द लेना चाहते हैं तब तो खाइये और यदि इसी जीवनमें ईश्वरका आनन्द प्रकट करना चाहते हैं तो खिलाइये। ईश्वर सारी दुनियाको खिला-खिलाकर आनन्द दे रहा है। उपनिषद्में आता है—**अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति** जीव खाकर चमकता है और ईश्वर बिना खाये ही चमकता है। ऐश्वर्यका आनन्द है दूसरोंको खिलानेमें। हमारा ज्ञान कब सफल होता है और उपासना कब सिद्ध होती है?

**वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।**
**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ ( ४.१० )**

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**
**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ( ४.११ )**

कर्मोंमें एक तो निष्काम कर्म होता है दूसरा सकाम कर्म होता है। ज्ञानकी पहली शर्त यह है कि आप राग, भय और क्रोधको अपने जीवनमें स्थान न दें। प्रतिकूलके प्रति क्रोध आता है। पति-पत्नी, भाई-भाई, माँ-बाप आदिमें-से कोई ऐसे निकल आते हैं जो यह चाहने लगते हैं कि घरके सब लोग उनके मनके अनुसार ही काम करें। वे समझते हैं कि और सब तो खिलौना हैं, मशीन हैं। इन सबका सञ्चालक सिर्फ मैं हूँ। इससे दूसरोंका जो तिरस्कार होता है उसपर सबका ध्यान ही नहीं जाता। मेरी

चलेगी तुम्हारी नहीं, इस बातपर घरोंमें बहुत झगड़ा हो जाता है। क्रोध आता ही इस बातसे है कि हमारे ही मनकी होनी चाहिए, तुम्हारे मनकी नहीं। यदि आप इस बातपर ध्यान रखेंगे कि दूसरोंका मन भी मन है और उनके मनसे मन मिलाकर ही हमको काम करना चाहिए तो कभी बाप-बेटेमें, भाई-भाईमें, पति-पत्नीमें झगड़ेका प्रसंग ही नहीं आयेगा।

प्रतिकूलके प्रति भी क्रोध नहीं होना चाहिए। क्रोध शब्दका अर्थ संस्कृतमें यह है—'क' माने सुख, 'रोध' माने अवरोध, रुकावट। सुखके रोधको ही क्रोध कहते हैं। सुखकी जो बूँदें हमारे हृदयमें गिरती रहती हैं और उसे मीठा बनाती रहती हैं उसमें अवरोध, रुकावट पैदा करनेका नाम क्रोध है। क्रोधी मनुष्य कभी सुखी नहीं रह सकता, यह आपको पहले बताया जा चुका है। आप क्रोधका परित्याग करनेके साथ-साथ अनुकूलके प्रति जो राग है उससे भी बचिये। क्योंकि जिससे राग होता है उसकी ओर हमारा जीवन झुक जाता है। तब हम अन्याय करने लगते हैं! तराजूका पलड़ा बराबर रहे तो ठीक अन्यथा एक ओर झुक जाने-पर बड़ा भारी अन्याय हो जायेगा। रागमें पलड़ा झुक जाता है, क्रोधमें पलड़ा उठ जाता है।

भयमें हमारे जीवनकी न्यायतुला काँपने लगती है। भय भविष्यकी वृत्तिमें होता है, कि आगे क्या होगा? शोक बीती हुई बातोंको लेकर होता है। बीती बातोंमें जो अच्छी होती हैं उनके लिए भी रोना आता है, जो बुरी होती हैं उनके लिए भी। जो बीती बातोंके स्मरण-चिन्तनमें अपना जीवन व्यतीत करता है, उसका पिछला जीवन तो नष्ट हुआ ही, वर्तमान जीवन भी व्यर्थ हो रहा है। मोह वर्तमानमें होता है। वह प्रतिकूलके प्रति द्वेष, क्रोधके रूपमें और अनुकूलके प्रति रागके रूपमें प्रकट होता है।

मोहका मतलब है दलदलमें पाँव गड़ गया। शोकका अर्थ है आपका पाँव पीछेकी ओर फिसल गया और आप मुँहके बल गिर पड़े। भयका अर्थ है आपका पाँव आगे फिसल गया और आप पीठके बल गिर पड़े। मोहके दलदलमें फँस गये तो आपकी गति रुक गयी, आप चल ही नहीं सकते। शोक, मोह और भयसे मुक्त जीवन ही ठीक-ठीक उन्नति या प्रगतिके मार्गपर चल सकता है। इस सम्बन्धमें श्रीकृष्ण सुझाव देते हैं कि—**वीतरागभयक्रोधाः** राग, भय और क्रोधसे मुक्त हो जाओ। मनुष्यको भय किस बातका ? जिसने माँके पेटमें नौ मास तक पाला-पोसा, पैदा होने-पर माँकी छातीमें पहलेसे ही दूध तैयार कर दिया, जिसने भोजन दिया, कपड़ा दिया, आँख दी, कान और हाथ दिये वह क्या कहीं चला गया है ? महात्मा लोग इस तथ्यको जानते हैं। उनके मनमें न भय है, न शोक और न मोहके दो पहलू, राग एवं क्रोध है। तब ऐसे महात्मा रहते कहाँ और काम क्या करते हैं ? बोले—**मन्मया मामुपाश्रिताः**—वे भगवान्‌के आश्रयमें रहते हैं और भगवान्‌का ही चिन्तन करते हैं। वे देखनेमें तो मनुष्य होते हैं परन्तु भीतरसे भगवन्मय होते हैं। 'मन्मया' का अर्थ इसके भीतरका स्वरूप देखो, उसका हृदय देखो। आप कभी किसी महात्माके पास जाते हैं या नहीं ? आपकी दृष्टिमें संसारका एक भी व्यक्ति निर्दोष है कि नहीं ? यदि नहीं तो आप भी निर्दोष नहीं होंगे और यदि आपकी दृष्टिमें अबतक किसीको भगवान् नहीं मिले, तो आपको भी नहीं मिलेंगे—यह बात पक्की समझिये। परन्तु यदि कोई निर्दोष है तो आप भी निर्दोष हो जायेंगे और किसीको भगवान् मिले हैं तो आपको भी भगवान् मिल जायेंगे। आपका विश्वास आपके जीवनका निर्माण करेगा।

जब हम किसी महात्माकी ओर देखते हैं, तब बाहर उनकी चमड़ी ही दिखायी देती है, किन्तु भीतरसे लगता है कि भगवान्

इसके हृदयमें प्रकट होता है। महात्मा वही है जिसके हृदयमें भगवान् प्रकट होता है। 'मन्मया'का उदाहरण व्रजकी गोपियोंने प्रस्तुत किया। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—

**ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।**

(भा० १०-४६-४)

और शुकदेवजीने भी कहा—

**तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।**
**तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥**

(भा० १०-३०-४४)

गोपियोंको शरीर विस्मृत हो गया, मकान भूल गया और वे भगवान्के ध्यानमें तन्मय हो गयीं। गीता भी कहती है कि जिसकी श्रद्धा जैसी होती है वह वैसा ही होता है—

**यो यच्छ्रद्धः स एव सः।** (१७.३)

जिसकी वृत्ति भगवान्में लगी है वह भगवत्स्वरूप ही है। **मन्मया मामुपाश्रिताः**—वैसे तो भगवान् भी कभी-कभी आश्रय लेते हैं और भक्त लोग उसकी बड़ी व्याख्या करते हैं। वाल्मीकि रामायणमें यह वर्णन आता है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र स्वयं सुग्रीवकी शरणमें गये—

**सुग्रीवं शरणं गतः** और जाकर हाथ मिलाया—

**निपीड्य पाणिना पाणिं**—निपीड्य शब्दका अर्थ है जोरसे दबाया, धीरेसे नहीं। इससे सुग्रीवको मालूम पड़ गया कि श्रीराचन्द्रमें कितनी ताकत है और वे बालिको मार सकेंगे। भगवान्का अपने भक्तकी शरणमें जाना उनके वात्सल्यका सूचक है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्रीकृष्णके हृदयमें भी एक तृष्णा होती है और वह है भक्त जनोंको अपना आश्रय बनानेकी।

भक्तजन कौन ? 'कृष्णतृष्णातत्त्वमिवोत्थितम्'—जिन्होंने श्रीकृष्ण-तृष्णाको अपने भीतर छिपा रखा है अथवा श्रीकृष्णकी है तृष्णा जिनमें—श्रीकृष्णस्य तृष्णा श्रीकृष्णतृष्णा, श्रीकृष्णकर्तृका तृष्णा—अथवा ऐसी तृष्णा जिसके कर्ता श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण लालची हैं इस बातके कि भक्तकी गोद हमको मिल जाये, इसका दूध पीनेको मिल जाये और इसका प्यार हमको मिल जाये। जहाँ भक्त-भगवान्‌में इतनी अभिन्नता है वहाँ वे एक दूसरेकी शरण लेंगे ही।

आपने एक कथा सुनी होगी। श्रीउदयनाचार्यजी महाराज जगन्नाथपुरीमें गये तो मन्दिरके कपाट बन्द थे। यह कपाट शब्द ही हेर-फेरसे फाटक बनता है। आचार्यजीने कपाट बन्द देखकर ललकारा जगन्नाथजीको—

**ऐश्वर्यमदमत्तोसि माम् अवज्ञाय वर्तसे।**

'तुम्हें ऐश्वर्यका मद हो गया है। मतवाले हो गये हो। मेरा तिरस्कार करते हो। मैं आया दरवाजेपर और मेरे लिए तुम्हारा कपाट बन्द। याद रखना—

**उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः।**

जब बौद्ध तुम्हारा खण्डन करेंगे तब तुम्हारा अस्तित्व मेरे अधीन होगा। मेरे आश्रयसे ही तुम्हारी सिद्धि होगी।

वास्तवमें ईश्वरकी सिद्धि भक्तोंसे होती है। **मन्मया मामुपाश्रिताः**—महात्मालोग भगवान्‌की शरण लेते हैं। यही ज्ञान और तपस्याका स्वरूप है। इससे वे पवित्र हो जाते हैं और पवित्र होकर भगवद्भावको प्राप्त होते हैं। जो ज्ञान भगवान्‌के उन्मुख है, भगवान्‌की ओर मुँह करके खड़ा है वह भगवदाकार हो जाता है। हम हैं ज्ञानस्वरूप और हमारा ज्ञान होता है भगवदाकार। इस-लिए हम भी भगवदाकार हो जाते हैं। हमें भगवद्भावकी प्राप्ति हो जाती है—**मद्भावमागताः।**

भक्तिकी इससे बढ़िया बात और क्या हो सकती है कि भक्त आया और उसने भगवान्‌के चरणोंका जो ऊपरी हिस्सा है उसे अपने प्रयाससे पकड़ लिया। 'प्रपद'को पकड़नेमें प्रपत्ति होती है और तलवेके नीचे हाथ रखनेमें शरणागति होती है। तलवेके नीचेका हाथ भगवान् दबा लेते हैं और शरणागति हो जाती है। एक स्वस्वीकृति होती है दूसरी पर-स्वीकृति, यह बात शरणागति-शास्त्रमें लिखी है। हमने स्वीकार किया कि भगवान् हमारे सर्वस्व हैं, रक्षक हैं—यह हमारी स्वीकृति हुई और भगवान्‌ने स्वीकार किया कि यह हमारा रक्ष्य है, वात्सल्य-भाजन है, स्नेहपात्र है—यह पर-स्वीकृति है। इस 'पर-स्वीकृति' अर्थात् भगवत्-स्वीकृतिको शरणागतिमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

मनुजीने प्रणाम करनेकी ऐसी व्यवस्था रखी है कि दोनों हाथ उत्तान करके दाहिनेसे दायाँ पाँव और बायेंसे बायाँ पाँव छूना चाहिए। किन्तु प्रणामकी यह पद्धति चरणोंसे कोई आशीर्वाद या शक्ति लेनेके लिए है! यहाँ तो भक्तने अपने दोनों हाथ भगवान्‌के चरणोंके सामने किये और भगवान्‌ने अपने चरण उनपर रख दिये। बोले कि दबे रहो बेटे और भक्तने विनयपूर्वक अपना सिर झुका लिया, मन-ही-मन कहा कि जबतक तुम्हारी मर्जी हो दबाये रहो। जैसे चाहो वैसे रखो। इसीका नाम शरणागति है। प्रपत्तिका अर्थ होता है कि हमने दोनों हाथसे भगवान्‌के पञ्जे पकड़ लिये। प्रपद माने ऊपरी हिस्सा, पञ्जा। भगवान् कहते हैं—

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**

इस विश्व-सृष्टिमें जितने भी मत-मजहब हैं उन सबमें ईश्वर भजनीय होता है, भजन-कर्त्ता नहीं होता। किन्तु यहाँ भगवान् कहते हैं कि मैं तो भजन करता हूँ। ईश्वर जीवकी भक्ति करे यह

बड़ी अद्भुत बात है। किन्तु हमारे यहाँ जब जीव भगवान्‌की ओर चलता है तब भगवान् उसका भजन करने लगते हैं—

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते** वह जैसा भाव लेकर भगवान्‌के पास जाता है, भगवान् भी उसी भावसे उसको स्वीकार करते हैं। कहते हैं कि यदि तुम हमारे कन्धेपर हाथ रखने आये हो तो हम तुम्हारे कन्धेपर हाथ रखते हैं। यदि तुम हमारे हृदयसे लगने आये हो तो आओ-आओ हम भी तुम्हारे हृदयसे लगते हैं—**तांस्तथैव भजाम्यहम्**। यदि भगवान् इसमें, प्रीतिमें जीवसे पीछे हो जायें तो इसमें उनकी क्या महिमा है? जीव भगवान्‌से जितना प्रेम करे, उससे भगवान्‌का प्रेम एक दो अंगुल आगे होना चाहिए।

**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।** ( ४.११ )

यह अद्भुत बात है कि हमारे भगवान्‌को कोई अभक्त नहीं दीखता। संसारमें कितने प्रकारके लोग होते हैं और उनको भगवान् किस दृष्टिसे अपना भक्त देखते हैं—इसपर मैंने पहले एक-एक दृष्टिसे बहुत विचार किया है। आपके घरमें आपका एक नन्हा-सा बालक है जब वह घूँसा तानकर आपकी ओर चलता है कि हम तुमको मारेंगे तब आप क्या अनुभव करते हैं। माँकी दृष्टिमें तो अपना बालक-बालक ही होता है। वह यह नहीं समझती कि परायी स्त्रीको देखते ही भागकर गोदमें छिप जानेवाला बालक जब उसकी ओर घूँसा तानकर आता है तो उसे अपनी माँ नहीं समझता। बल्कि वह यह समझती है कि मुझे अपनी माँ समझकर ही घूँसा तान रहा है और उसे गोदमें उठा लेती है। यह माँका स्वभाव है। इसी प्रकार भगवान्‌को कोई वाण मारने आये तो भी वे माताकी तरह वात्सल्यवश उसे अपना बालक ही समझते हैं और उसको उठाकर अपनी गोदमें ले लेते हैं। कहते हैं कि—

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

अर्जुन ! संसारके सब मनुष्य, सभी अवस्थाओंमें मेरी ओर आ रहे हैं। मैं देख रहा हूँ कि वे मेरे मार्गपर चल रहे हैं। मेरी दृष्टिमें मेरा कोई अभक्त नहीं होता, सब मेरे भक्त होते हैं।

## प्रवचन—१०

( २५-११-'७४ )

बुद्धिके सामने भगवान् हों तो ज्ञान होता है, प्रीतिके सामने भगवान् हों तो भक्ति होती है और कर्मके सामने भगवान् हों तो यज्ञ होता है। गीतामें ज्ञानका वर्णन इस प्रकार है—

**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। ( ४.१० )**

ज्ञान भी एक तपस्या है। उपनिषदोंमें तप शब्दका अर्थ ज्ञान है। जब—

**तपसेदमसृजत यस्य ज्ञानमयं तपः। ( मुण्डक १.१.९ )**

आता है? उसका अर्थ ज्ञान ही होता है। सारी सृष्टि ज्ञानसे होती है। जब हमारी प्रीति भगवान्‌की ओर बढ़ती है—**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**—तब भक्ति हो जाती है। अगले श्लोकमें कहा—

**कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।**
**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ ( ४.१२ )**

इसमें जो 'मानुषे लोके' शब्द है इसपर आप थोड़ा ध्यान दें। मनुष्य लोकमें ही कर्मज सिद्धि है। तात्पर्य यह कि मानव-जातिमें ही कर्मकी सिद्धि है और सब परवश होकर प्रकृतिके राज्यमें विचरण करते हैं किन्तु मनुष्यको प्रकृतिके राज्यसे मुक्त होनेका भी सामर्थ्य प्राप्त है। मनुष्यके शरीरसे भी इसकी कुछ सूचना मिलती है। देखो वृक्ष नीचेसे ऊपर जाता है। संस्कृतमें इसीलिए इसका नाम 'पादप' है कि वह पादसे पीता है, नीचेसे ऊपरकी

ओर जा रहा है, उन्नति कर रहा है। पशु-पक्षी आगेसे खाते हैं और उनका खाया हुआ पीछेको जाता है। किन्तु मनुष्य इतना ऊपर चढ़ गया है कि दो पाँवपर खड़ा है। दो हाथ और मुँहसे खाता है तथा उसका खाया हुआ नीचे जाता है। इसका अर्थ है कि प्रकृति प्राणीको जहाँ तक ऊपर कर सकती थी वहाँ तक उन्नत करके मनुष्य-योनिमें ले आयी है। अब यदि यह चाहे तो यहाँसे एक छलांग लगाये और प्रकृतिके राज्यसे छुटकारा पाकर भगवान्‌को प्राप्त कर ले। अन्यथा फिर इसे कर्मानुसार नीचेकी योनियोंमें जाना पड़ेगा। मनुष्यके जीवनमें सच्चिदानन्दका आविर्भाव पूर्ण है। आनन्द लेनेकी जितनी प्रक्रिया मनुष्यको आती है उतनी और किसीको नहीं आती। नाकके लिए तरह-तरहके इत्र बनाना, स्वादके लिए तरह-तरहके भोजन पकाना, मनुष्योंके सिवाय और किसीको नहीं आता। आग जलाकर और नमक, खटाई, मिर्च आदि मिलाकर भाँति-भाँतिके पक्वान्न बनाना केवल मनुष्योंके वशकी ही बात है। गन्धमें, रसमें, रूपमें आविष्कार करना मनुष्योंको ही आता है। स्पर्शकी नवीन-नवीन प्रकिया मनुष्योंको ही आती है। इसी प्रकार संगीत, व्यापार, प्रेम, ज्ञान आदिकी विद्या मनुष्य-जातिमें ही होती है। तात्पर्य यह कि सत्ताका आविर्भाव, ज्ञानका आविर्भाव और आनन्दका आविर्भाव—ये तीनों मनुष्य-योनिमें हैं। इसीसे गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि मनुष्य-जन्मको प्राप्त करके जिसने अपने जीवनका ठीक-ठीक निर्माण नहीं किया वह आत्मघाती गतिको प्राप्त करता है—

**सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति पाई।**

महाभारतमें भी एक छोटा-सा वचन है—न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ( शान्तिपर्व २९९.२० )—अर्थात् मनुष्यसे बढ़कर और कोई श्रेष्ठ नहीं। भगवान्‌ने मानुषे लोके कहकर याद दिलायी कि

देखो ये पक्षी दस हजार वर्ष पहले जैसे नंगे रहते थे वैसे आज भी रहते हैं। गाय भी वैसी ही रहती है। घोड़ा भी वैसे ही रहता है। परन्तु मनुष्यकी गति कैसी बढ़ रही है!

बम्बईमें एक सज्जनका बहुत बढ़िया मकान समुद्रके किनारे था। मुझे तो वह स्वर्ग-जैसा लगता था। परन्तु कुछ दिन बाद देखा वह मकान तोड़कर नये डिजाइनका बन गया था। मैंने पूछा कि यह क्या हुआ? इतना बढ़िया मकान क्यों तोड़ दिया गया। उत्तर मिला कि बच्चोंको पसन्द नहीं आता था, इसलिए उनकी इच्छाके अनुसार नये डिजाइनका बनवाना पड़ा। यह हाल है मनुष्यके रुचि-परिवर्तनका। हम उसकी प्रशंसा करते हैं, मनुष्यकी बुद्धि नव-नवोन्मेषशालिनी है। वह नयी-नयी युक्ति और नयी-नयी रीति निकालती रहती है। इससे मनुष्यकी प्रतिभा चमकती है। उसके आनन्दका प्रसाद होता है। इसलिए भगवान्‌ने कहा कि मनुष्य-जीवनमें ही कर्मकी सिद्धि ठीक प्रकारसे होती है—

**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा। (४.१२)**

किन्तु मनुष्यके जीवनमें सहजा सिद्धि नहीं। पक्षी जन्मसे ही उड़ना जानता है, मछली जन्मसे ही तैरना जानती है। अतः उनमें स्वभावजा-सिद्धि है और मनुष्योंमें कर्मजा-सिद्धि है। वह कार्य करेगा तो उसे सिद्धि मिलेगी। सिद्धिके लिए बुद्धि लगानी पड़ेगी। मिले-मिलाये धनसे धनी होना कोई प्रशंसाकी बात नहीं। स्वयं अपनी कमाईके धनका जितना महत्त्व है, उतना महत्त्व दूसरेकी कमाईसे प्राप्त धनका नहीं। मनुष्य कर्म करके जो सिद्धि प्राप्त करता है उससे उसके जीवनका शृङ्गार होता है, वह सफल होता है। इसमें मनुष्य-योनिके साथ-साथ कर्मजन्य सिद्धिका भी महत्त्व है।

लोकमें मनुष्यकी श्रेष्ठता क्यों है इसका एक उदाहरण लें। मनुष्य उसे कहते हैं जो मनसे सीखे। वैयाकरणोंने व्युत्पत्ति की है **मनोरपत्यं मनुष्यः** मनुका बेटा मनुष्य है। नैरुक्तोंने व्युत्पत्ति की है **मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति** ( निरुक्त ३.७ ) जो अपने मनसे सी लेता है वह मनुष्य है अर्थात् वह सम्बन्ध जोड़ता है कि इस साधनसे इस साध्यकी प्राप्ति होगी अथवा इस साध्यकी प्राप्तिके लिए यह साधन करना चाहिए। मनसे साधन और मनका विचार मनुष्य ही करता है। यह कारखाना खोलेंगे तो ऐसी-ऐसी चीजें बनेंगी और उसके लिए ऐसी-ऐसी मशीनका उपयोग करना होगा, यह भी मनुष्य ही सोचता है। अपने मनसे कार्य-कारणके सम्बन्धको जोड़नेमें समर्थ होनेके कारण ही इसका नाम मनुष्य है।

अब एक विशेषता यह बताते हैं कि चातुर्वर्ण्य मनुष्य जीवनमें ही है **चत्वारो वर्णाः इति चातुर्वर्ण्यम्**—उसमें चार वर्ण हैं और सर्वथा स्वाभाविक हैं। कुछ लोग उसको कर्मकी प्रधानतासे धार्मिक बोलते हैं. कुछ जन्मकी प्रधानतासे स्वाभाविक मानते हैं। कोई-कोई उसे ब्राह्म अथवा ईश्वरीय भी मानते हैं। इस प्रकार इसकी मान्यताके तीन पक्ष हैं। आजके युगमें लोगोंको चातुर्वर्ण्यकी बात बेकार और निष्प्रयोजन लग सकती है। लेकिन इसका आधार बहुत ठोस है। इस विषयमें मन्त्र है—

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।**
**ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥**
( ऋ. १०.९०.१२ )

वेदका यह मन्त्र चातुर्वर्ण्यका आधार बताता है। ज्ञानकी प्रधानतासे मुख ब्राह्मण, कर्मकी प्रधानतासे बाहु क्षत्रिय, वस्तु-विनिमयका भार-वहनकी दृष्टिसे ऊरु वैश्य और पहुँचानेकी दृष्टिसे पाँव शूद्र। शरीरका कोई अङ्ग अनावश्यक नहीं होता। वह चारों

अंगोंसे ही बनता है। पाँवके बिना लूला-लँगड़ा हो जायेगा, गति रुक जायेगी ! हाथके बिना कर्म नहीं करेगा। ऊरुरहित—भारवाहनकी क्षमता नहीं रहेगी और मुखके बिना सब व्यर्थ। जैसे चारों अवयव होनेपर ही शरीर पूर्ण होता है वैसे ही किसी समाजमें भी ज्ञान, बल, वस्तु और कर्म इन चारोंकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। समाजमें बुद्धि चाहिए, बल चाहिए, वस्तुओंका उत्पादन, विनिमय, वितरण चाहिए और उसके लिए भरपूर श्रम चाहिए। समाजके ये चार विभाग हैं। संस्कृतमें समाजका अर्थ है **यस्यां समम् अजन्ति**—जिसमें सब लोग साथ-साथ उन्नति करें, आगे बढ़ें। जहाँ सबको कर्म, द्रव्य, बल और विज्ञान इन सबमें उन्नति करनेकी सुविधा हो, वही चातुर्वर्ण्य समाज होता है। चातुर्वर्ण्यका नाम सुनकर चिढ़ने या नाक-भौं सिकोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं। कर्मसे चातुर्वर्ण्यकी व्याख्या स्थिर नहीं की जा सकती। क्योंकि एक ही व्यक्ति अपने प्रतिदिनके काममें कभी कर्म, कभी वस्तु-संग्रह, कभी बल-प्रयोग और कभी विचार करता है। सम्पूर्ण जीवनमें कभी कर्म-परायण होता है तो कभी अवकाश प्राप्त कर लेता है।

काशी-विद्यापीठमें एक बार महात्मा गाँधी आये हुए थे। डाक्टर भगवान् दासजीने सार्वजनिक समारोहमें स्वागत करते हुए कहा कि 'गाँधीजी ब्राह्मण हैं।' गाँधीजीने अपने उत्तरमें कहा कि बाबा ! ब्राह्मण तुम्हीं रहो मुझे तो वैश्य ही रहने दो। मैं तो व्यापारी हूँ। यहाँ भी व्यापारके गरजसे आया हूँ। कुछ लिये बिना जानेवाला नहीं। कभी-कभी ऐसा ख्याल होता है कि हमारी जो परम्पराएँ हैं, इनके जो रहस्य हैं उनका लोप हो जायेगा और अगली पीढ़ी उन्हें निष्प्रयोजन समझकर भूल जायेगी।

सत्त्व, रज, तमका जब चार प्रकारसे प्रस्तार करते हैं तब चातुर्वर्ण्य बनता है। ऐसा वृक्षोंमें भी होता है। आप देखना।

कुछ वृक्ष ज्ञान-दान करते हैं, कुछ वस्तु-दान करते हैं, कुछ शक्ति-दान करते हैं और कुछ केवल काम करनेके ही काम आते हैं। आम और सेव इत्यादिके जो फलदार वृक्ष हैं, उनके वैश्य होनेमें क्या सन्देह है ? इसी प्रकार बबूलका पेड़ हल या बेंट बनानेके काम आता है, फिर बबूलके शूद्र होनेमें क्या शंका है ?

पशुओंमें भी हमारी गोमाता पीनेके लिए दूध देती है इसलिए वह वैश्य है। शास्त्रोंके अनुसार गायका वर्ण वैश्य है।

एक-एक वस्तुमें प्रकृति एवं कर्मोंके अनुसार चार-चार विभाग, चातुर्वर्ण्य है। जब हम विवेक करते हैं तो सच्चिदानन्दके अनुसार भी चातुर्वर्ण्य प्रतीत होता है। शूद्रके समान ब्रह्मचारीको भी अपने गुरुकी सेवा करनी पड़ती है। अतः ब्रह्मचारी और शूद्र सेवा-प्रधान होनेसे विश्वात्मा हैं। वैश्य और गृहस्थ दोनों योजना-प्रधान होनेसे तैजस हैं, हिरण्यगर्भ हैं। क्षत्रिय और वानप्रस्थ अन्याय एवं विस्तारके निवारण द्वारा सृष्टिको समेटनेका काम करते हैं। अतः प्राज्ञ हैं। कर्ममें विश्वात्मा, उपासनामें तैजस, योगमें प्राज्ञ और तत्त्वज्ञानमें तुरीय होता है। ब्राह्मण और संन्यासी तुरीय तत्त्व-प्रधान होते हैं। क्षत्रिय और वानप्रस्थ प्राज्ञ तत्त्व-प्रधान होते हैं। वैश्य और गृहस्थ तैजस तत्त्व-प्रधान होते हैं तथा ब्रह्मचारी और शूद्र विश्व वैश्वानर तत्त्व-प्रधान होते हैं। विश्व-सृष्टिमें इनका बड़ा भारी उपयोग है।

जो लोग प्रकृतिसे सृष्टि मानते हैं वे सत्त्व-रज-तमके अनुसार वर्णका विभाग मानते हैं। जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे सृष्टि मानते हैं वे तुरीय एवं प्राज्ञ आदिके असुसार मानते हैं। **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**—यह भगवान्‌का वाक्य है। कहते हैं कि चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि मैंने की है।

भगवान्‌ने जो यह कहा कि—

**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**

वह निराधार नहीं, साधार है। गुण-कर्ममें गुण-विभाग और कर्म-विभाग दो विभाग हैं। अब देखो, भगवान्‌ने चातुर्वर्ण्य उत्पन्न करनेके पहले गुण-विभाग बनाया। अथवा गुण-विभागके बाद चातुर्वर्ण्य उत्पन्न किया? सत्त्व-रज-तम ये तीनों गुण चातुर्वर्ण्यके बननेके पहले प्रकृतिमें अथवा चातुर्वर्ण्य बन गया तब गुण-विभाग उत्पन्न हुए? इसका उत्तर वह श्लोक ही दे देगा आपको।

पहले गुण-कर्म-विभाग था। भगवान्‌ने गुण-विभागसे तो ली शरीरकी सामग्री और कर्म-विभागसे लीं उसकी विशेषताएँ दोनोंको लेकर ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदिकी सृष्टि की। इसमें शंकाकी कोई बात नहीं।

सिद्धि एक तो आधिभौतिक होती है, दूसरी आधिदैविक होती है और तीसरी आध्यात्मिक होती है। माता-पिताका जो रज-वीर्य है वह भौतिक है, उससे शरीर बनता है। गायत्री द्वारा जो उपासना है वह आधिदैविक है। भगवान्‌ने जो गीतामें शम-दम आदि संयम बताये हैं उनको बतानेमें भी बड़ी विचित्रता है। वे यह नहीं कहते कि जिसमें शम-दम आदि हों वह ब्राह्मण है अपितु यह कहते हैं कि—

**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।**
**कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (१८.४१)**

अर्थात् पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं, बादमें उनके कर्मोंका विभाजन है। मूल बात यह है कि चातुर्वर्ण्यका आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक आधार है और उसमें

श्रेष्ठताकी कई बातें हैं। व्याकरणके महाभाष्यमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है—त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च (४.१.४८) जिसका जन्म, कर्म और ज्ञान तीनों ही पवित्र हों, शुद्ध हों तब समझना चाहिए कि यह श्रेष्ठ ब्राह्मण है। उसमें केवल जन्म, उपासना अथवा विद्यासे ब्राह्मणत्व नहीं आता, उसके श्रेष्ठत्वके लिए जन्म, कर्म और विद्या तीनोंकी ही अनिवार्यता है। यह सब हम आपको इसलिए सुना रहे हैं कि सनातन धर्मकी प्राचीन परम्पराओंपर आपकी अश्रद्धा न हो।

अब पूजाकी बात देखो, आप अपने पिता, पितामह आदि पितरोंकी पूजा करेंगे तो वंश-परम्पराकी संस्कृतिका स्मरण बना रहेगा और वह आपके वंशमें चलती भी रहेगी। सनातन धर्मके ग्रन्थोंमें लिखा है कि जो पितृ-पूजा करता है उसकी वंश-परम्पराका उच्छेद नहीं होता। उसके वंशमें बच्चे होते ही रहते हैं। जो पिण्डोदक और तर्पण करते रहेंगे उनकी परम्परा चलती रहेगी। देवताकी पूजा करेंगे तो उनसे इन्द्रियोंको अनुग्रह प्राप्त होगा। जैसे आपकी आँख देखती है और बहुत तेज देखती है परन्तु सूर्यकी रोशनी न हो तो न पुस्तक दिखायी पड़ती है, न पढ़ी ही जाती है। पुस्तक है विषय, आँख है पढ़नेका साधन और उसमें अनुग्रह हो रहा है सूर्यका। इस प्रकार सूर्य अधिदैव हो गया, आँख अध्यात्म हो गयी और पुस्तक अधिभूत हो गयी। जब हम देवताकी आराधना करते हैं तो हमारी इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ती है। सूर्य भी देवताओंमें इन्द्रकी तरह देवता है। चन्द्रमा भी देवता है। पुरुषोंके लिए मुख्यरूपसे सूर्यकी और स्त्रियोंके लिए मुख्यरूपसे चन्द्रमाकी आराधनाका विधान है। स्त्रीके शरीरको मनस्तत्त्व प्रधान माना गया है। अतः चन्द्रमाकी आराधनासे उनमें कोमलता, आह्लाद और लालित्य आदिकी प्राप्ति होती है। हमारे सनातन धर्ममें स्त्रियोंका बड़ा महत्त्व है—बड़ी

महिमा है, हम राजनीतिमें उनका समानाधिकार भी मानते हैं, लेकिन गर्भाधानमें उनका समानाधिकार नहीं। यदि वे यह कहें कि गर्भ स्त्रीके ही पेटमें क्यों, पुरुषके पेटमें क्यों नहीं ? तो यह प्रकृतिके विरुद्ध बात है। वे तो स्नेह, प्रेम, रस, सौन्दर्य, वात्सल्य आदि दिव्य सद्गुणोंकी ही अधिकारिणी हैं। हमारे सनातन धर्मका यह दृष्टिकोण है कि उनके दिव्य सद्गुणोंका उच्छेद नहीं होना चाहिए। स्त्रियोंके लिए जो चन्द्रमाकी उपासनाका विधान है इससे आपको डरना नहीं चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रवंशी हैं और भगवान् राम सूर्यवंशी होते हुए भी रामचन्द्र कहलाते हैं। शिवचन्द्र, विष्णुचन्द्र सुननेमें नहीं आता। प्रेमके, मर्यादाके जो देवता हैं उनकी उपासना सबके लिए आनन्ददायक है। स्त्रियोंके लिए चन्द्रमाकी उपासनापर इसलिए जोर दिया गया है कि उनके शरीरमें चान्द्र-तत्त्वकी प्रधानता है। पुरुष-शरीरमें सौर-तत्त्व अधिक है। अतः उसके लिए सूर्योपासनापर बल दिया गया है। यह सब हमारे सनातनधर्मकी विज्ञान-परम्पराएँ हैं।

यदि आपको अपना अन्तःकरण राग-द्वेषरहित करना हो तो केवल ईश्वरकी उपासना करनी चाहिए। अवतारोंको लेकर जो सम्प्रदाय-भेद हैं वे अन्तःकरणमें राग-द्वेषकी सृष्टि कर देते हैं। आप ईश्वरका आकार चाहे कुछ भी मानें; परन्तु ईश्वरको एक मानें। उसे सम्पूर्ण आकारोंसे निष्क्रान्त भी मानें। संस्कृत-भाषामें निराकार शब्दका अर्थ होता है **अकारेभ्यो निष्क्रान्तः**। यदि अद्वैतका अनुभव करना हो तो शाङ्करीविद्याके बिना अद्वितीय तत्त्व, साक्षात् अपरोक्ष हो ही नहीं सकता। शाङ्करी विद्या माने औपनिषद-विद्या। वह अभेदभाव और आत्यन्तिक मुक्तिके लिए है। समता और अभेदमें अन्तर होता है। समता दो वस्तुओंसे होती है, इसके समान वह और उसके समान यह। अभेद तात्त्विक दृष्टिसे होता है। इसमें तो द्वैत नामकी वस्तु ही नहीं।

भगवान्‌ने यह जो सृष्टि बनायी है इसमें गुणोंका उपादान है और कर्मका निमित्त है। भगवान्‌ने बताया, मैं कर्त्ता भी हूँ और अकर्ता भी हूँ। हमारे श्रीकृष्णको मिली-जुली बात बोलनेका अभ्यास बचपनसे ही है। आपको सुनाते हैं श्रीकृष्ण और रामकी प्रकृतिका अन्तर। परन्तु यह लीला त्रेता, द्वापरवाले अयोध्या, वृन्दावनकी नहीं, यह तो नित्य साकेत-धाम और नित्य गोलोक-धामकी है। दोनों नित्य धामोंमें कौशल्या भी रहती हैं, यशोदा भी रहती हैं। राम भी रहते हैं, कृष्ण भी रहते हैं। उनकी बाल-लीलाएँ भी होती रहती हैं। एक दिन कौशल्या माताके मनमें आया कि यशोदा मातासे मिलें। इसमें त्रेता, द्वापरका काल-भेद मत लाइये। किसी भी मानसिक या आत्मिक तत्त्वमें कालका व्यवधान नहीं जोड़ा जाता। जब कौशल्या माता यशोदा माताके पास जाने लगीं तो रामचन्द्रजी भी साथ हो गये। उसी समय यशोदा माताके मनमें कौशल्या मातासे मिलनेकी आकांक्षा जागृत हो गयी और वे भी श्रीकृष्णको साथ लेकर चल पड़ीं। बीचमें कहीं दोनोंका मेल हो गया। वहाँ बहुत सुन्दर बाग-बगीचा था। दोनों बैठ गयीं और आपसमें बात करने लगीं। राम और कृष्ण आपसमें खेलने लगे। बातों-बातोंमें अन्धेरा हो गया। विदा होते समय जल्दीमें यशोदाने रामको और कौशल्याने कृष्णको पकड़ लिया। देखनेमें दोनों एक ही सरीखे हैं। दोनों माताएँ अपने-अपने लोकमें गयीं। रामचन्द्र गये नन्दबाबाके यहाँ। नन्दबाबाने कहा आओ भोजन करो। रामचन्द्रने पहले हाथ-पाँव धोये और देखने लगे कहाँ बैठें ? उनके लिए आसन बिछाया गया। उन्होंने भगवान्‌को भोग लगाकर भोजन प्रारम्भ किया। इधर कृष्णचन्द्र भोजनके समय दशरथजीकी गोदमें बैठ गये और भगवान्‌को भोग लगाये बिना ही खाने लगे। एक ग्रास अपने मुँहमें डालें और दूसरा ग्रास दशरथके मुखमें। उनकी दाढ़ी खींचें और कभी-कभी उठकर नाच

आयें, घूम आयें। भाई, यही राम और कृष्णकी प्रकृतिका अन्तर है। रामचन्द्र गम्भीर हैं इसलिए गम्भीर लोगोंको ज्यादा आकृष्ट करते हैं और श्रीकृष्ण अपनी चञ्चलतासे बालकोंके मनको भी आकृष्ट कर लेते हैं।

अब आप श्रीकृष्णकी मिली-जुली बातपर आइये—

तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्। (४.१३)

[ वे कहते हैं मैंने बनाया भी है, नहीं भी बनाया। अरे बाबा एक बात तो बोलो। किन्तु उन्हें तो जो बोलना था बोल चुके ] समाधान प्रस्तुत करते हैं। श्री शङ्कराचार्य कहते हैं कि भगवान्ने लोकमायाकी दृष्टिसे तो बनाया है किन्तु परमार्थकी दृष्टिसे नहीं बनाया। क्योंकि वे अकर्ता हैं। अब श्री वल्लभाचार्यजी महाराजका कहना है कि भगवान् परस्पर-विरुद्ध धर्माश्रय हैं। उनके बनानेमें अहङ्कार नहीं, कृत्रिमता नहीं, उनके बनानेसे किसी फलकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए जैसा काम जीव करते हैं, वैसा काम भगवान् नहीं करते। जीव करता है तो अहङ्कारसे करता है और एक कृत्रिम रचना रचता है। उसके लिए स्वयं नवीन फलकी उत्पत्ति होती है। परन्तु जब भगवान् बनाते हैं तब उनकी लीला होती है, लीला-कैवल्य बोलते हैं। ब्रह्मसूत्रमें—**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** (२.१.३३) कहा है। जैसे कोई मनुष्य मित्रोंमें बैठकर हँसी-खेल करता है। खेल शब्दका अर्थ है जिससे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति न हो। जो कर्म आकाशमें उड़ जायें—**खे लीयते**—पाप-पुण्य पैदा न करें उनका नाम होता है खेल। लीलाका अर्थ होता है—**लीङ् आश्लेषणे**—जो परमात्मासे आश्लेष-दान करे, भगवान्को मिला दे। भगवान् खेल खेलते हैं। अज्ञानी मनुष्योंके समान काम नहीं करते। इसलिए वे कर्ता होनेपर भी अकर्ता हैं। इसके बाद आते हैं ये श्लोक जिन्हें हम पहले बार-बार उच्चारण करते रहते थे—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ (४.१४)
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ (४.१५)

भगवान् कहते हैं कि मैं कर्म तो करता हूँ किन्तु मुझमें कर्मका-लेप नहीं होता। हँसीके सन्दर्भमें यह बात वैसी ही है, जैसे कोई व्यापारी बेहिसाब व्यापार फैला ले, उचित-अनुचित काम-धन्धा कर ले, लेकिन इतना चतुर हो कि सरकार उसकी गलती पकड़ न सके और वह कहता फिरे कि मैं कर्म करता तो हूँ, परन्तु उसकी जिम्मेदारी मुझपर नहीं। यद्यपि यह हँसीको बात है परन्तु इसमें सच्चाई है।

भगवान् कर्म तो करते हैं, परन्तु कर्म अपना फल उनके साथ लिप्त नहीं कर पाते। उन्हें इस बातका अभिमान नहीं होता कि मैंने यह किया, मैंने वह किया। कर्मसे बचनेका उपाय भी यही है। किसीने पूछा तुमने यह काम किया? नहीं, हमारे बुद्धिमान् मैंनेजरने किया है। कर्मचारियोंकी विशेषता है कि उन्होंने यह काम इतनी योग्यताके साथ किया है। अगर सारा श्रेय अपने ऊपर लेते जाओगे तो कर्मचारियोंका मन उदास हो जायेगा। भगवान् कहते हैं कि यह सृष्टि तो ब्रह्माने बनायी, इसका पालन विष्णु और संहार शिव करते हैं। मैं यह सब नहीं करता। मुझे इसका कोई अभिमान नहीं कि मैंने यह काम किया है न मे कर्मफले स्पृहा। अच्छा, इससे जो मुनाफा होगा वह तो तुम लोगे न? बोले, बिलकुल नहीं। मैं तो यह चाहता हूँ कि सारे काम पब्लिकके फायदेके लिए हों। हम तो लोगोंकी भलाईके लिए ही काम करते हैं। अपने लिए कुछ भी नहीं करते। इसीलिए मेरी स्पृहा नहीं कि किसी भी कर्मका फल मेरे पास आये। जिसकी आज्ञासे,

जिसके हस्ताक्षरसे कर्म होगा और जो उसका लाभ लेगा वह तो पकड़ा जायेगा किन्तु जो कर्मके अनुष्ठानमें अपना अहङ्कार नहीं डालेगा और उसके फलका भोक्ता नहीं बनेगा, उसे कोई पकड़ नहीं सकता। कुछ लोग कर्म कर रहे हैं और कुछ उसका फल भोग रहे हैं। बुद्धिमान् वैज्ञानिक कर्मचारी काम कर रहे हैं और जनता उसका लाभ उठा रही है। हम कामके साक्षी मात्र हैं। साक्षीको पाप नहीं लगता। काममें कर्तृत्व नहीं साक्षीत्व चाहिए और चाहिए यह कि उसका सारा-का-सारा लाभ दूसरे उठायें। आपने गीताका यह श्लोक देखा ही है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (१८.१९)

हमारे बड़े-बड़े महात्मा आचार्य बोलते हैं—

यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन॥

प्रभो, मैंने जो कुछ किया और आगे जो कुछ करूँगा वह सब मेरा किया हुआ नहीं, वह सब तुमने किया है और तुम्हीं उसका फल भोगो।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अद्वैत-सिद्धि नामक ग्रन्थकी रचना की और उसके अन्तमें लिख दिया कि जिसने इसका निर्माण किया पाठक उसीकी स्तुति-निन्दा करें। मुझमें कर्तृत्व है ही नहीं—

मयि नास्त्येव कर्तृत्वम् अनन्यानुभवात्मनि।

गीताका जो यह मन्त्र है कि अपनेको कर्ताके रूपमें अनुभव मत करो, उपस्थित मत करो, जिसके द्वारा काम हो रहा है उसके कर्तृत्वको स्वीकार करो। यह बहुत अद्भुत है। भगवान् राम कहते हैं कि ये जो बन्दर-भालू हैं, यही हमारे समरार्णवके पोत हैं।

हमने इन्हींके सहारे समर-समुद्रको पार किया है। राम कभी नहीं कहते कि मैंने रावणको मारा। कौशल्याजीने पूछा कि बेटा, मैंने सुना है तुमने रावण-सरीखे राक्षसको मार दिया। भगवान् राम बोले—नहीं मैया, मैंने नहीं मारा। कौशल्याने कहा—सब कहते हैं कि तुमने ही मारा। तब बोले—हमारे गुरुदेव वसिष्ठजीने आशीर्वाद दिया इसीसे हमारी जीत हो गयी और रावण मर गया। मैंने नहीं मारा। देखो, यह है हमारे मर्यादा-पुरुषोत्तम नीति-निपुण भगवान् रामकी वाणी।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों अवास्तविक हैं और परमार्थ-स्वरूप आत्माके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं। एक बात और ध्यान देने लायक है कि यदि कोई भगवान्के सच्चे स्वरूपको जान जाये तो उसे भी कर्म-लेप नहीं होता—

**इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।**

अच्छा जी, भगवान्का कर्म-फलसे लेप नहीं और कर्म-फलमें स्पृहा भी नहीं, इसको जान लेने मात्रसे हम कर्म-फल तथा कर्म-स्पृहासे कैसे छूट जायेंगे? इसकी कोई युक्ति तो होनी चाहिए। इसकी युक्ति यही है कि यदि आत्मा और परमात्मा एक नहीं होते तो परमात्माके ज्ञानसे आत्माकी मुक्ति नहीं होती। इसलिए जब हम यह जान लेते हैं कि परमात्मा कर्मके कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे विनिर्मुक्त है, तब हमें यह अनुभव होता है कि जैसे परमात्मा सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता एवं अभोक्ता है, वैसे ही हम सब कुछ करते-भोगते हुए भी अकर्ता और अभोक्ता हैं। परमात्मा-आत्मा दोनोंके अभेद-बोध द्वारा हम कर्म-लेपसे मुक्त हो जाते हैं।

कर्मसे छूटनेके लिए कर्म करनेकी जरूरत नहीं। इस प्रसंगमें तुलसीदासजी कहते हैं कि—**छूटे मल कि मलहि के धोये?** मलसे धोनेपर मल नहीं छूटता। साबुन लगानेसे मैल भले छूट जाती

हो, पर साबुन अपना संस्कार छोड़ जाती है, उसकी गन्ध रहती है। गन्ध न भी हो तो उसका थोड़ा प्रभाव रहता है। जो कर्म परमात्म-ज्ञानसे छूटता है, वही वास्तवमें छूटता है।

**एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।**
**कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ ( ४.१५ )**

मुमुक्षु उन्हें कहते हैं जो संसारके बन्धनमें बँधना नहीं चाहते। इसको ऐसे समझो—एक आदमी काम तो गलत करना चाहता है पर जेलसे भी छूटना चाहता है। जेलमें न जायें और जेलमें हों तो उससे छूट जायें—ऐसी युक्ति की जा सकती है।

**मुमुक्षुभिः** का तात्पर्य है कि हमको वन्दीगृहमें न जाना पड़े और बन्दी हों तो उससे मुक्त हो जायें। ऐसे लोग वैसे ही कर्म करते हैं जैसे कि भगवान् श्रीकृष्ण करते हैं। हमलोग सनातनी हैं। सनातनका तात्पर्य यह होता है जिसके आगे से भी संगति हो पीछेसे भी। जो आगे है उसे आप पीछे छोड़ते जा रहे हैं। आपके आगे वह आयेगा। जिसके आगे आनेकी आप कल्पना कर रहे हैं वह पीछे आ चुका है। सनातन शब्दका अर्थ पिछला-पिछला नहीं होता। जो पीछे था आगे आयेगा और जो आगे आयेगा वह पीछे था।

**पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्**—का अर्थ है कि जब आपसे कोई कहे, भाई! पाँच मिनट भगवान्‌का स्मरण भजन कर लो, सन्ध्या-वन्दन कर लो। आप यह मत पूछिये कि क्यों? यदि आपने कहा कि नहीं करेंगे तो हम आपसे पूछते हैं कि क्यों नहीं करेंगे? आप उस समय ताश खेलते होते हैं, व्यापारका काम करते होते हैं, क्लबमें होते हैं या सिनेमामें होते हैं? कहाँ होते हैं? क्यों नहीं आप पाँच मिनटके लिए इस कामको कर सकते? आपके पिताजी करते थे, आपके दादाजी करते थे, आपके परदादाजी

करते थे किन्तु आप ऐसे कहाँसे आगये कि उसे छोड़ रहे हैं। आप आखिर छोड़ क्यों रहे हैं ? उसकी अपेक्षा कोई और महत्त्वपूर्ण काम आप कर रहे हैं क्या ? कहीं ऐसा तो नहीं सोच रहे हैं कि पहले जो लोग करते थे उनको समझ नहीं थी। इस प्रकार उनका तिरस्कार करते हुए छोड़ रहे हैं अथवा आगे बढ़ते हुए छोड़ रहे हैं। यह एक अहम प्रश्न है। भाई मेरे, यदि हम सर्वात्मा परमात्माके नामपर अपना पाँच मिनटका समय भी नहीं दे सकते, यदि हम बिना प्रयोजन, बिना लाभ और बिना कामनाके पाँच मिनट भी ईश्वरके साथ नहीं जुड़ सकते तो सोचिये हमारा यह जीवन कितना विडम्बनामय हो जायेगा। इसलिए—**पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्**—परम्परासे जो चला आया है उसमें यदि आपकी कोई हानि हो तो आप बेशक मत कीजिये। परन्तु उससे यदि आपके अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, आपके अन्तःकरणका निर्माण होता है, तो यह आपका सबसे अधिक लाभ है। आप बन्दूकको साफ नहीं करना चाहते और उसको चलाना चाहते हैं, गिलास साफ नहीं करना चाहते और उसमें दूध पीना चाहते हैं, हाथकी मैल धोना नहीं चाहते। आप गलतीपर हैं। अतः **पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्**—का अर्थ है पहले बन्दूककी नली साफ कर लीजिये, गिलास साफ कर लीजिये, हाथ धो लीजिये तब उनको उपयोगमें लाइये। इस प्रक्रियाको आप अवश्य स्वीकार करें। यह भगवान्‌की आज्ञा है।

अब इसके बाद प्रसङ्ग आता है कि मनुष्यको कर्मके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। कर्मके रहस्यको जानना बहुत आवश्यक है। भगवान्‌ने कर्मके तीन विभाग कर दिये—कर्म, अकर्म, विकर्म। व्याख्याकारोंने तरह-तरहसे इनकी व्याख्या की है। पूर्वाचार्योंकी व्याख्या भी है और नवीनाचार्योंकी व्याख्या भी है। श्रीरामानुज स्वामीने इसकी व्याख्या की है कि आप

नित्य-कर्म कीजिये। उससे आपको बन्धन नहीं होगा, आप मुक्त होंगे। यदि आप नित्य-कर्म करना छोड़ देंगे तो वह छोड़ना भी एक कर्म होगा और अनुशासनके अनुसार प्राप्त कर्त्तव्यका परित्याग बन्धनका कारण बनेगा। कर्त्तव्यके उल्लंघनका कर्तृत्व भी अपने ऊपर आता है। अपने ऊपर जिम्मेवारी आती है कि तुम्हारा यह कर्त्तव्य था, तुमने क्यों छोड़ दिया। वैसे अभावसे फलकी उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु एक सिपाहीको चौराहेपर इसलिए खड़ा किया गया है कि वह वाहनोंपर अथवा पैदल चलनेवालों पर नियन्त्रण करे। अब वह सिपाही यदि वहाँसे हट जाय, किसी दूकानपर जाकर चाय पीने लगे और अनियन्त्रणके कारण दुर्घटना हो जाय तो उसे दोषी माना जायेगा कि नहीं? उसका यह कहना कि मैंने कुछ किया नहीं, सिर्फ थोड़ी देरके लिए चाय पीने चला गया था, उसे दोषमुक्त नहीं कर सकता। काम छोड़नेमें भी दोष होता है। कर्त्तव्य कर्मको न करना भी एक कर्म है और उससे पाप लगता है। इसी प्रकार अपने कर्त्तव्यका पालन करना भी कर्म नहीं; क्योंकि यदि उसके पीछे निष्काम भाव है तो उससे किसी फलकी उत्पत्ति नहीं होती। श्री रामानुजाचार्यने इसकी व्याख्या ऐसे की है कि अपने कर्त्तव्य कर्म करते चलो। यदि तुम कर्त्तव्य कर्म छोड़ दोगे तो भगवान्‌के सामने तुमसे पूछा जायेगा कि तुमने आखिर किस कारणसे अपना कर्त्तव्य छोड़ दिया? मालिक पूछेगा कि तुम उस समय कहाँ गये थे? तुमने अपना काम क्यों नहीं किया? सृष्टिका एक मालिक है, संचालक है जो इस बातपर दृष्टि रखता है।

श्री शङ्कराचार्यका इस सम्बन्धमें दृष्टिकोण यह है कि वेदान्त की पहली सीढ़ी देहमें 'मैं' न रखना है। इसलिए जो लोग अपने आपको देह-मात्रमें सीमित कर लेते हैं और कहते हैं कि मैं केवल इतना ही हूँ, वे श्रीकृष्णके उपदेशोंसे लाभ नहीं उठा सकते। अरे

बाबा ! केवल शरीरको ही क्यों मानते हो ? कम-से-कम परिवार तो मानो अपनेको। फिर गाँव मानो, राष्ट्र मानो, सम्पूर्ण मानवता मानो। व्यक्तिको समष्टिसे ले जानेकी जो प्रक्रिया है, वह विश्वात्मा-से एक होनेका पहला कदम है। माण्डूक्योपनिषद्के अनुसार ईश्वरकी ओर चलनेका पहला कदम यह है कि हम अपनेको एक शरीर न समझकर सम्पूर्ण-विश्व समझें। आप तो जानते ही हैं कि हम एक-एक शब्द जो बोल रहे हैं वह यदि यन्त्रके सामने बोलें तो इसी समय अमेरिका, रूसमें सुनायी पड़ सकता है। शब्द व्यापक होता है। यदि यन्त्रों द्वारा प्रेषण और श्रवणकी व्यवस्था न हो तो भी बोला हुआ शब्द व्यापक हो जाता है। इस सिद्धान्त-को लेकर बेतार-का-तार आविष्कृत हुआ है। जब हमारे शब्दकी यह स्थिति है कि वह बोलते ही सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो जाता है तो क्यों न हम शुभ बोलें ? यदि आप अपने मुँहसे गाली निकालेंगे तो वह सारी दुनियामें फैल जायेगी, सबके हृदयोंमें, सबके सामने गाली दीखेगी और सबकी जबानसे गाली निकलेगी। एक-एक शब्द बोलनेमें सावधान रहना चाहिए। आप जो बोलेंगे वह सबके हृदयमें, सबके कानोंमें, प्रवेश करेगा। सबकी वाणीसे निकलेगा और सबके जीवनका निर्माण करेगा। आप केवल एक मनुष्य, एक शरीर नहीं सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि हैं। स्वामी रामतीर्थका कहना था कि 'जब मैं चलता हूँ तो सारा भारत चलता है और जब मैं बोलता हूँ तो सारा भारत बोलता है'। भारत अर्थात् सम्पूर्ण विश्व। हमलोग भारतवर्षको इतना ही नहीं मानते कि उसके पूर्व, पश्चिम और दक्षिणमें समुद्र है और उत्तरमें हिमालय है। हम तो क्षार-समुद्रसे घिरी हुई सारी धरतीको भारतवर्ष मानते हैं। हमारे पुराणोंमें जिस भूगोलका वर्णन है उसके अनुसार खारे समुद्रसे घिरा हुआ सम्पूर्ण जम्बू-द्वीप भारतवर्ष है। उसमें केवल भारतवर्ष स्थूल सृष्टिके रूपमें है और बाकी सब-के-सब

सूक्ष्म हैं। आज जितनी भी सृष्टि उपलब्ध है, वह सब किसी समय भारतके नामसे ही प्रसिद्ध थी। वह धीरे-धीरे कटती गयी, समुद्र धरतीके टुकड़ोंको अलग करता गया, जनताके संस्कार अलग-अलग होते गये और परम्पराएँ बदलती गयीं।

भाई, आप अपनेको एक शरीरके रूपमें मत मानिये। आपका शरीर भी पञ्चभूत ही है और बोली भी आपकी सब जगह पहुँचती है। अच्छा, जरा बताइये आपके शरीरका आकाश अलग है क्या ? आप दुनियाके आकाशसे अपने भीतरके आकाशको अलग कर सकते हैं ? इस संसारमें जो हवा चलती है उससे क्या आप अपनी साँसको अलग कर सकते हैं ? फिर आप अपनेको देह-बद्ध क्यों करते हैं ? भगवान् शङ्कराचार्यका कहना है कि देहमें जो मैं-पना है, यह अविचार-रमणीय है। जबतक हम वेदान्त-विचार नहीं करते, तत्त्व-विचार नहीं करते तभीतक 'मैं' देहबद्ध मालूम पड़ता है, अन्यथा वह सम्पूर्ण विश्वात्मा है। विश्वात्मासे परे 'मैं' समग्र सूक्ष्म सृष्टि है। उससे भी परे कारण-सृष्टि है और उससे भी परे परब्रह्म तत्त्व जिसमें सब नहीं। सब माने तो समष्टि होता है। बहुतोंके जोड़का नाम सब होता है। उपनिषद्का जो तत्त्व है वह बहुतोंका जोड़ नहीं वह तो एकमेवाद्वितीय है।

इसलिए भगवान् कृष्ण कहते हैं—

**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।**
**स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ ( ४.१८ )**

अर्थात् तुम स्वयंको सम्पूर्ण विश्वात्माके साथ, ईश्वरके साथ, परब्रह्म परमात्माके साथ एक करके देखो और इस शरीरसे जो कर्म हो रहा है, उसके होते हुए भी अपनेको अकर्म समझो। यदि तुम इस शरीरसे कर्मको छोड़कर हाथ-पाँव बाँधकर बैठोगे तो इसमें भी कर्म होगा। अतः योगी वह है, बुद्धिमान् वह है जो

सारे कर्म करते हुए भी उनसे मैं-मेराका सम्बन्ध छोड़कर परमात्माके साथ एकाकार हो जाता है। ऐसा होनेपर न तो कर्मका सम्बन्ध जुड़ता है, न पाप-पुण्य लगता है और न सुख-दुःख मिलता है। वह सुख-दुःख, पाप-पुण्य, लोक-परलोक और स्वर्ग-नरकसे मुक्त हो जाता है। उसके सामने न तो संसार रहता है न परिच्छिन्नता रहती है। वह सर्वथा अद्वितीय परमात्माके रूपमें विराजमान हो जाता है।

एक बात ध्यानमें रखनेकी है। संसारके जो अन्यान्य धर्म हैं, वे सब कहानी-किस्सोंके आधारपर टिकते हैं। पुराण-प्रधान धर्म पौराणिक धर्म है। किन्तु हमारा जो यह धर्म है, आध्यात्मिक है और हमारी गीता दार्शनिक दृष्टिकोणसे हमारे जीवनके रहस्यों, कर्मों और भोगोंका प्रतिपादन करती है। गीता दृष्टि देती है और आप उसके अनुसार चलकर स्वयं परमात्मासे एक हो जाते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

• • •

## प्रवचन–११

### ( २६-११-७४ )

सब परमेश्वरके स्वरूप हैं और परमेश्वर अपना ही स्वरूप है। परमेश्वरसे कभी वियोग नहीं होता। जिससे कभी वियोग होता है वह अपना ही स्वरूप नहीं। जिससे कभी वियोग नहीं होता वह अपना ही स्वरूप है। आप सब अपने ही स्वरूप हैं। वक्ता अपनी ओरसे कुछ नहीं बोलता। श्रोताके हृदयमें जो सुननेका संकल्प होता है, वही वक्ताके निःसंकल्प हृदयमें प्रतिबिम्बित होता है। उसीसे वाणी निकलती है। एकने पूछा कि ईश्वरको टेलीफोन करनेका नम्बर क्या है? उत्तर मिला कि तुम अपने हृदयको खाली कर लो और खाली हृदयमें ईश्वरसे बातचीत करो। वही हृदय ईश्वरके साथ जुड़ता है। मेरा हृदय आप लोगोंके हृदयसे जुड़ता है। मैं प्रवचन करनेके लिए कई स्थानोंपर जाता हूँ। जैसे श्रोता होते हैं, वैसी ही बात निकलती है। मालूम पड़ता है कि मैं जो कुछ बोलता हूँ, वह मेरा बोला हुआ नहीं, आपका ही बोला हुआ है। मैं भक्तोंमें जाता हूँ तो भक्तिकी बात आती है। वेदान्तियोंमें जाता हूँ तो वेदान्तकी बात आती है और गाँवोंमें जहाँ लुगाायाँ-पत्तायाँ अधिक होती हैं—जाता हूँ तो दूसरे ही ढंगकी बात आती है। ये सब हमारी बात नहीं आपकी ही है। आप स्वयं बोलें और टेपरिकार्डरको धन्यवाद दें, उसके प्रति आभार प्रकट करें तो कैसा लगेगा? उसमें जो ध्वनि भरी हुई है वह आपकी ही है। मैं सबका नाम

तो नहीं ले सकता किन्तु श्रीमती सरला और वसन्त कुमारजी, देवधरजी, रमणलाल बिन्नानी, सीतारामजी सेकसरिया, भगीरथजी कानोडिया, ईश्वरी प्रसाद गोयनका और जो लोग पीछे बैठे हैं वे सब; इतना समय निकालकर इतने प्रेमसे यहाँ एकत्रित होते हैं यह बहुत आनन्ददायक है। मुझे बम्बईमें एक सेठने कहा था कि 'महाराज हम आपके पास चौबीस घण्टे मोटर रख सकते हैं और आप कहें तो दस हजार रुपये भी भेज सकते हैं, लेकिन हमसे घण्टे भरका समय न माँगना। घण्टे भरमें तो हम उलट-पुलट कर देते हैं। व्यापारके क्षेत्रमें हमारा समय बहुत कीमती है। वही कीमती समय आप लोगोंने सत्सङ्गमें दिया है। इससे आपकी रुचि और प्रीति प्रकट होती है। ईश्वर करे यह बनी रहे और दिनोंदिन बढ़ती रहे।

हमारा जो अध्यात्मतत्त्व है वह ब्रह्म, ईश्वर, माया, प्रकृति और पञ्चभूत सबमें ओत-प्रोत है। मैटर एक है और उसमें अलग-अलग शकलें बनी हैं। सब रूप कर्मसे बनते हैं। जैसे परमात्मा सोना है, उसीमें कंगन, कुण्डल और हार आदि बने हैं। सबकी डिजाइन अलग-अलग है पर है वह सब-का-सब परमात्मा।

गीताके उपदेशोंका तात्पर्य यही है कि आपको जो मनुष्यकी बहुत सुन्दर आकृति प्राप्त हुई है वह आपके शुभ कर्मोंसे ही प्राप्त हुई है। अब आप कुछ ऐसे कर्म करें कि या तो आपका रूप इससे भी अधिक सुन्दर, मधुर, आकर्षक और लोकोपयोगी हो जाये या आप कुछ ऐसा ज्ञान प्राप्त करें कि आपकी वासनाएँ शान्त हो जायें, मिट जायें और आपके सारे कर्म भगवत्संकल्प एवं भगवत्-इच्छासे ही हों। यदि आप अपने ही पसन्दकी सुन्दर आकृतिका निर्माण करना चाहते हैं तो उसके लिए शुभ कर्म कीजिये और राम, कृष्ण, नारायण, शिव या अन्य अभीष्ट देवी-देवताओंकी

आकृतियोंका ध्यान कीजिये। फिर आपकी आकृतिका जो चोला है इसकी जगहपर अपेक्षित आकृति आ जायेगी। आप स्वयं राममय, कृष्णमय, नारायणमय, शिवमय हो जायेंगे। आपके जीवनमें दिव्यता-पवित्रता बरस पड़ेगी। किन्तु यदि आप किसी भी आकृतिके निर्माणका सङ्कल्प छोड़ देंगे और जिस रूपमें भागवत-सत्ता प्रकट हो रही है, उस रूपमें उसे प्रकट होने देंगे तो आप निर्वासन-निःसंकल्प होकर साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हो जायेंगे।

मनुष्य जब कर्म करने लगता है तब उससे गलती यह होती है कि वह छोटी-छोटी चीजोंको बहुत अधिक महत्त्व दे देता है। मुझे याद है, एकबार एक सज्जन पाँच हजार रुपयेके लिए किसी मनुष्यका तिरस्कार कर रहे थे। मैंने उनको समझाया कि 'भाई, रुपये तो आते-जाते ही रहते हैं परन्तु ऐसा मनुष्य तुम्हें फिर नहीं मिलेगा। संसारकी सम्पदासे मनुष्यकी कीमत बहुत अधिक है। सम्पदामें केवल जड़ता प्रकट होती है और मनुष्यमें जड़ता और चैतन्य दोनों प्रकट होते हैं। उनके विकासको अवरुद्ध करना मनुष्यके लिए उपयुक्त नहीं।' किन्तु उन्होंने मेरी बात नहीं मानी। वह मनुष्य उनके यहाँसे हटकर दूसरी जगह चला गया और वहाँ बहुत बड़ी सम्पदाके रूपमें प्रकट हुआ। उसके द्वारा बहुत बड़े-बड़े काम हुए।

जिन बालकोंको हम छोटा समझते हैं वे छोटे नहीं; उनमें राम हैं, कृष्ण हैं, बुद्ध हैं, ऋषि हैं, तिलक हैं, गांधी है। उनमें बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली, बड़े-बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् हैं। वे हमें छोटे दिखायी देते हैं किन्तु उनके भीतर तो बहुत बड़ी शक्ति है। हमसे उस समय बहुत बड़ी भूल होती है, जब हम चेतनकी प्रधानताका आदर न करके जड़ताकी प्रधानताका आदर करते हैं। हमें काम करते समय अपनी ओर तथा अपनी आत्माके निर्मल स्वरूपकी ओर देखना चाहिए।

मैं एक दिन किसीके घरमें भिक्षा कर रहा था। अचानक ही वे लोग बद्रीनाथके मार्गमें मिल गये थे। रसोइयेने हमें देखकर समझा कि कहींसे भिखमंगे आगये। उसने मोटी-मोटी पूड़ियाँ बना दी। जब लड़की परसनेके लिए चौंकेमें गयी और उसने मोटी पूड़ियोंको देखा, तब उसने परसी हुई थाली धम्मसे पटक दी और गुस्सेमें बोली—'मैं स्वामीजीको ऐसी पूड़ियाँ खिलाऊँ?' इस घटनाके उल्लेखका आशय यही है कि हमें यह देखना चाहिए कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह हमारे स्वरूपके अनुरूप है या नहीं? आप परमात्माके अंश हैं, आपके भीतर सच्चिदानन्द हैं। आप सुख देनेके लिए हैं, ज्ञान देनेके लिए हैं, पवित्रता देनेके लिए हैं। अतः आपके जीवनसे इसीकी किरणें, इसीकी राशियाँ निकलनी चाहिए।

गीताका पहला सन्देश यही है कि हम स्वार्थ-वासनासे, अहङ्कारसे मुक्त होकर कर्म करें। कर्म करते हुए भी अपनेको कर्ताके रूपमें न देखें। अपितु परमात्माको ही कर्त्ताके रूपमें देखें अथवा परमात्माकी प्रकृतिको, उनके सङ्कल्पको और उनकी मायाको देखें।

**कर्मण्यकर्म यः पश्येत्**—हो रहे हैं कर्म और अपनेको देखें अकर्म। जो लोग हाथ-पाँव बाँधकर बैठ जाते हैं और कहते हैं कि कुछ नहीं करेंगे, उन लोगोंने न तो हाथ बाँधे, न पाँव समेटे और न जीभ समेटी। जिसको वे अकर्म समझते हैं उसके साथ भी कर्म ही है और वह संसारमें फँसनेवाला है।

अकर्ममें आसक्त न होकर कर्म करते हुए यह प्रयास करना चाहिए कि बुद्धि बनी रहे और योग बना रहे। भगवान्‌के उपदेशकी यही विलक्षणता है कि **कृत्स्नकर्मकृत्** कर्म भी हों, **युक्तः** योग भी बना रहे और बुद्धि भी बनी रहे। बुद्धिको छोड़कर भगवान्

किसी साधनका वर्णन नहीं करते। जिस साधनसे बुद्धिका नाश हो जाये वह साधन, साधन ही नहीं। जैसे शरीरको नष्ट करने-वाला विष आपके जीवनका हेतु नहीं, वैसे ही बुद्धिको नष्ट करनेवाली वासना आपके जीवका अङ्ग नहीं। विष बाहरसे आता है, वासना भीतरसे आती है। इसलिए हमें सावधान रहना चाहिए कि न तो हम निकम्मे हों और न हमारी वासना हमारे कर्मोंको भीतर चिपकाकर हमें नीचे ले जाय।

**यस्य सर्वे समारम्भाः** आप खूब काम कीजिये। समारम्भका अर्थ है बड़े-बड़े काम कीजिये। ऐसा काम कीजिये जिससे सारे विश्वको भोजन मिले, वस्त्र मिले, आवास मिले और वाहन मिले। कामसे भोगनेकी जरूरत नहीं। जरूरत है यह देखनेकी कि आप जो काम कर रहे हैं, उससे केवल आपको भोग मिले, यह वासना न हो जाय। **कामसङ्कल्पवर्जिताः** का यही अर्थ है कि आपमें काम अर्थात् भोगका संकल्प न रहे। आप अपने भोग-सकल्पसे बड़े-बड़े काम मत कीजिये, अपितु परमात्माकी प्रसन्नताके लिए, यज्ञके लिए कीजिये।

जब आप यह देखेंगे कि परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं तब ज्ञानकी अग्निसे कर्मका जो गिरानेवाला अंश है वह भस्म हो जायेगा—**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**। वह न उद्नीय अर्थात् ऊपर उठानेवाला होगा, न नीचे ले जायेगा। न आपको आगे ले जायेगा न पीछे। आप जहाँ हैं वहीं आपको कर्मके प्रभावसे मुक्त करके परमात्मामें स्थित कर देगा।

**त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।**
**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥** (४.२०)

इसके पहले श्लोकमें 'समारम्भ' है। इसमें 'अभिप्रवृत्त' है। अभिप्रवृत्तका अर्थ है आपके चारों ओर काम हो, सामने हो, पीछे

हो, दाहिने हो, बायें हो, ऊपर हो, नीचे हो। अभितः माने सर्वत्र आपके जीवनमें केवल प्रवृत्ति ही प्रवृत्ति हो परन्तु फलकी आसक्ति न हो।

पहले श्लोकमें बताया कि ज्ञान-पूर्वक कर्म आपको नहीं बाँधेंगे और दूसरेमें बताया कि यदि आपके चित्तमें फलासक्ति नहीं होगी तो आप बन्धनमें नहीं पड़ेंगे। कर्म करना अपना काम है और फल देना परमात्माका। फल अपने हाथमें है ही नहीं। फलासक्ति छोड़ दो और काम करते रहो।

वृन्दावनमें जब जयपुरवाला बड़ा मन्दिर बन रहा था, जो आज करोड़ों रुपयोंमें भी नहीं बनेगा तब उसमें प्रसिद्ध सन्त ग्वारिया बाबा और रामकृष्णदासजी महाराज दिन भर काम करते और पत्थर ढोते, मसाला ढोते और मजदूरी लेनेके समय गायब हो जाते। उन्होंने राज-मजदूरोंके साथ काम किया। एक दिन जब पकड़े गये और पूछा गया कि तुमलोग मजदूरी क्यों नहीं लेते, तो बोले कि: 'क्या भगवान् तुम्हीं लोगोंका है? तुम लोग धन लगाकर मन्दिर बनवाओ और हम शरीरसे काम भी न करें? हमने जो कुछ किया है और करते हैं वह सब भगवान्के लिए है।' हम जो कर्म करते हैं वह ईश्वरकी पूजा है और ईश्वर-पूजाके लिए ही कर्म होता है।

**निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।**
**शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ (४.२१)**

आप कर्म कीजिये, लेकिन केवल शरीर-निर्वाहके लिए, परिग्रहके लिए नहीं। ऐसी स्थिति में आपका वह कर्म आपके जीवनमें अपना दोष उत्पन्न नहीं करेगा।

**यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।**
**समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ (४.२२)**

आप कर्म कीजिये, परन्तु ध्यान रखिये कि आप अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन कर रहे हैं; कर्मकी सिद्धि या असिद्धि आपके हाथमें नहीं। आप अपने काममें लगे रहें और अपना कर्तव्य पूरा करते रहें तो कर्म आपको वन्धनमें नहीं डालेगा। इसलिए न तो आप कर्म छोड़ें और न उनमें आसक्त हो जायें, कर्म ऐसे ढंगसे करें जो आपको वाँधे नहीं। भगवान्‌ने वादमें बताया—

> **गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।**
> **यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (४.२३)**

ये पाँचों श्लोक बताते हैं कि हम किस ढंगसे काम करें जिससे कर्म-बन्धनमें न पड़ें। पाप न लगे, नरकमें न जायें। पुण्य न मिले, स्वर्गमें न जायें। पाप बाँधकर नरकमें ले जाता है अर्थात् दुःखमें ले जाता है और पुण्य बाँधकर स्वर्ग ले जाता है, अर्थात् सुखमें ले जाता है।

ये दोनों अपना फल बलात् देना चाहते हैं। परन्तु भगवती गीताने यह युक्ति निकाली कि कोई आपको न नीचे ले जा सके, और न ऊपर ले जा सके। आप अपने स्थानपर स्थिर हो जायें। कोई हमेशा हवाई जहाजपर नहीं रह सकता, वह आकाशमें कितना भी उड़े अन्तमें उसे धरतीपर एक जगह बैठना पड़ेगा। इसी प्रकार कोई कितना भी नीचे चला जाये अन्तमें उसको अपने स्थानपर आना पड़ेगा। जबतक जीवनमें स्थिरता नहीं आयेगी, तबतक कितना भी ऊपर-नीचे जाओ काम वनेगा नहीं। अतः यज्ञके लिए कर्म करो। हमारे सारे कर्मोंमें यज्ञ है। यज्ञमें कुछ तो लोगोंसे लेना पड़ता है; इकट्ठा करना पड़ता है। यज्ञके लिए शाकल्य चाहिए, घी चाहिए, ब्राह्मण चाहिए। इसी प्रकार कुछ देना भी होता है। यज्ञ द्वारा सृष्टिमें सुगन्ध देते हैं और ब्राह्मणको

दक्षिणा देते हैं। इससे उनकी जीविकाका निर्वाह होता है और वे वैदिक-संस्कृतिकी रक्षा करते हैं। यदि उनके लिए कुछ करेंगे नहीं तो वे बेचारे क्यों यज्ञका काम करेंगे? जीवन-निर्वाहके लिए कोई दूसरी जीविका अपना लेंगे। यज्ञमें एक होता है आदान और दूसरा होता है प्रदान। प्रदानका अर्थ है वितरण, इसको यह दो, उसको वह दो। घरमें जो इकट्ठा हो जाता है उसके वितरणकी पद्धति है यज्ञ। यज्ञमें कुछ नियम भी लेने पड़ते हैं जिनसे जीवनमें संयम आता है, तपस्या आती है। कुछ लोग मन्दिरोंमें अथवा बड़ोंके सामने भी हाथ जोड़नेसे कतराते हैं और पूछते हैं कि क्या फायदा? इससे अच्छी आदत पड़ती है, विनय आती है और आशीर्वाद प्राप्त होता है। परन्तु जिनकी भगवद्भावना होती है वे सबको परमेश्वर समझकर ही हाथ जोड़ते हैं।

**यज्ञायाचरतः कर्म**का तात्पर्य है कि सबके हृदयमें भगवान् विष्णु बैठे हुए हैं और हम सबकी प्रसन्नताके लिए यह यज्ञ कर्म कर रहे हैं। ऋग्वेदका मन्त्र कहता है कि जो केवल अपने खानेके लिए कर्म करता है वह पाप करता है—

**केवलाघो भवति केवलादी** ( ऋग्वेद १०.११७.६ )

भोजन केवल अपने लिए नहीं पकाओ। पहले थोड़ा दूसरोंके उपयोगमें आये और बादमें जो बचे वह दूसरोंके उपयोगमें आये। बीचमें जो होता है; वही अपना हिस्सा है। रसोई पकाना और संसारके काम करना एक जैसा ही है। बड़े-बड़े कल-कारखाने और बड़े-बड़े उद्योग केवल अपने भोग-रागके लिए ही नहीं होते अपितु विश्वात्मा भगवान्की सेवाके लिए होते हैं। यदि इस दृष्टिसे यज्ञ-कर्म किया जाये तो **समग्रं प्रविलीयते** वह आपको बन्धनमें नहीं डालेगा, नीचे नहीं गिरायेगा।

इसके बाद भगवान् अर्जुनको इस विश्व सृष्टिमें तेरह प्रकारके यज्ञ बताये जो बहुत विलक्षण हैं। आजकल लोग यज्ञका नाम सुनकर घबरा जाते हैं। भगवान्‌ने एक ब्रह्मार्पण-यज्ञ बताया है जिसमें कर्मका लेशमात्र भी नहीं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ (२.२४)

सभी कर्म ब्रह्मरूप हैं। इनका समर्पण भी ब्रह्मरूप है और फल भी ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्मातिरिक्त और कोई वस्तु नहीं। इस दृष्टिका नाम है—ब्रह्मार्पण-दृष्टि और यह ब्रह्मार्पण यज्ञ है। इसी प्रकार एक ब्रह्माग्नि यज्ञ है और भी अनेक बढ़िया-बढ़िया यज्ञ हैं। देवताकी प्रसन्नताके लिए यज्ञ है। इन्द्रियोंके संयमनके उद्देश्यसे यज्ञ हैं। यहाँ तक कि भोगकी दृष्टिसे भी यज्ञ हैं। आप कभी इन यज्ञोंपर ध्यान दें।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति। (४.२६)

हम जो आँखसे सुन्दर दृश्य देखते हैं, कानसे मधुर शब्द सुनते हैं, त्वचासे कोमल स्पर्श करते हैं और अपनी इन्द्रियोंकी आगमें पवित्र विषयोंका हवन करते हैं—यह भी एक यज्ञ है।

भारतीय संस्कृतिके यज्ञोंकी चर्चा कहाँतक की जाये? छान्दोग्योपनिषद् और बृहदाण्यक उपनिषद्‌में तो पति-पत्नीके समागमका भी यज्ञके रूपमें वर्णन है। कुछ लोग भले मर्यादाके नामपर उनकी उपेक्षा करें, किन्तु भगवान् शंकर-जैसे आचार्योंने भी उनका भाष्य किया है। आप अपनी भारतीय संस्कृतिकी उदारताका यह सिद्धान्त तो देखें कि वह हमारे जीवनमें आनेवाले सभी कर्मोंमें यज्ञ-बुद्धि उत्पन्न करके उन्हें किस प्रकार पवित्र कर देता है। क्रिया क्या है, वेदी क्या है, घृत क्या है, अग्नि क्या है, इसकी चिनगारियाँ क्या हैं, इसका वर्णन उपनिषदोंमें आता है। हमारे

यहाँ दन्तधावन भी एक नित्यकर्म है, धर्म है। लघुशंका कैसे करना, शौच कैसे जाना, स्नान कैसे करना आदि सभी कर्मोंका विधि-विधान है—हमारे शास्त्रोंमें, जिनसे पवित्र होकर हम यज्ञ-कर्म सम्पन्न करते हैं। ऐसी उदार है हमारी भारतीय संस्कृति, जिसमें उठना, बैठना, चलना, पढ़ना, लिखना, बोलना, विश्राम यहाँ तक कि पुत्रोत्पादन भी धर्म है। तो—

**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते। ( ४.२३ )**

आप यज्ञकी दृष्टिसे इन्द्रियोंका विषय-भोग कीजिये अथवा इन्हें संयमित कीजिये—दोनों यज्ञ हो जाते हैं। इन यज्ञोंका वर्णन करके अन्तमें भगवान्‌ने यह कहा—

**श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।**
**सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ( ४.३३ )**

द्रव्यसे जो यज्ञ होता है उसकी अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। जितने भी कर्म हैं वे एक अनुभव या ज्ञान देकर समाप्त हो जाते हैं। आप इसको लौकिक दृष्टिसे देखिये। आप प्रत्येक कर्मसे एक अनुभव या ज्ञान प्राप्त करते हैं। जब अनुभव या ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उसके लिए कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। अब वे कर्म आपको न कहीं ले जायँगे, न बाँधेंगे, न पराधीन बनायेंगे और न आपको फल देंगे। क्योंकि वे कर्म सारी सृष्टिके लिए हो जायेंगे और सबका भला करेंगे।

आप जानते हैं कि ज्ञानके समान पवित्र पदार्थ अन्य कोई नहीं, यह बात स्वयं भगवान्‌ने कही है। सर्वं कर्माखिलम्‌का उद्देश्य है ज्ञाने परिसमाप्यते उस ज्ञानको प्राप्तिके लिए भगवान्‌ने कुछ कर्तव्य बताये—

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। ( ४.३४ )**

ज्ञान प्राप्तिके तीन उपाय हैं—प्राणिपात, परिप्रश्न और सेवा। ज्ञान, गंगाकी धाराकी तरह है। जिस प्रकार गंगा हिमालयसे नीचे समतल भूमिपर आती है, उसी प्रकार ज्ञान भी विनयीकी ओर प्रवाहित होता है। वह अभिमानकी चोटीपर नहीं चढ़ता। अभिमानी लोग मार्गमें चलते-चलते कहते हैं, 'महाराज ! कुछ ज्ञानका उपदेश कीजिये।' फिर बोलते हैं—'महाराज ! दो शब्द चेतावनीके कहते जाइये।' 'अरे चेतावनी सुनते-सुनते तुम्हारी जिन्दगी बीत गयी। अब रास्तेमें चलते-चलते सुन लोगे तो क्या हो जायगा ?'

ज्ञान-प्राप्तिके लिए अपने अहंभावको विनयसे युक्त करना पड़ता है—'प्रणिपातेन।' ज्ञान चुरानेसे भी काम नहीं होता। कई लोग चलते-चलते या कहीं बैठे रहनेपर बातचीतकी बातें नोट करते रहते हैं और फिर कहीं अपनी बुद्धिका वैभव प्रकट करते हैं। यह ज्ञान-प्राप्तिका मार्ग नहीं। इसलिए मनोयोगपूर्वक 'परिप्रश्नेन'—पूछ-पूछकर उसको ग्रहण करना चाहिए। 'सेवया' सेवा करके भी ज्ञान प्राप्त करनेका विधान है।

कर्म जड़ औजारोंसे होता है। समाधि भी जड़ताकी ही एक स्थिति है। परन्तु ज्ञान चेतनके सबसे अधिक निकट है। इसलिए ज्ञानकी प्राप्तिके लिए मनुष्यको प्रयास करना चाहिए। ज्ञान केवल उपदेशसे ही नहीं मिलता उसके लिए पात्रताकी भी आवश्यकता है।

> श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
> ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ( ४.३९ )

ज्ञानसे तत्काल शान्ति मिलती है। ज्ञान और शान्तिके बीचमें कोई व्यवधान नहीं। जहाँ ज्ञान है, वहाँ शान्ति है। जहाँ शान्ति है वहाँ ज्ञान अवश्य है। परन्तु जो वासनाएँ होती हैं वे ज्ञानकी

रश्मियोंको कलुषित करती रहती हैं और उनके कारण शान्ति प्राप्त नहीं होती। यदि आपको ज्ञान प्राप्त हो जाय तो—

**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।**
**येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथा मयि॥ ( ४.३५ )**

इस श्लोकमें ज्ञानका स्वरूप बताया है। ज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता। मोह माने भटकना मुह् वैचित्ये चित्तके वैपरीत्यका नाम मोह है। जब **अधर्मः धर्मरूपेण** अधर्म धर्मके समान और धर्म अधर्मके समान प्रतीत होने लगे, तमोगुण बढ़ जाय, सब कुछ विपरीत दिखायी देने लगे **सर्वथा विपरीताश्च** उसके निवारणका एक मात्र उपाय ज्ञान ही है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मोह अथवा तामसी बुद्धि तकलीफ नहीं देती।

यहाँ ज्ञानकी बड़ी भारी महिमा बताते हुए यह भी बता दिया कि जो ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा उसके लिए आगे खतरा है।

**अज्ञश्चा श्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। ( ४.४० )**

धर्म अज्ञानीके लिए भी है, मूर्खके लिए भी है, पागलके लिए भी है। पशुपक्षी और पेड़-पौधोंकी रक्षाके लिए भी धर्म है। आपने पढ़ा होगा, हमारे महाराजा पृथुने साँपोंकी रक्षाके लिए उनके भोजनका बन्दोबस्त किया, पृथिवीसे दोहन किया। राज्यमें शेर भी बने रहें, साँप भी बने रहें, पक्षी भी बने रहें, पशु भी बने रहें। सबकी, सबके बीजकी रक्षा राजाका कर्त्तव्य है। क्योंकि वे ईश्वरकके बनाये हुए हैं और सृष्टिमें उनकी आवश्यकता है।

पहली बात यह है कि ज्ञान प्राप्त किया जाये और यदि प्रयास करनेपर भी ज्ञान प्राप्त न हो तो फिर ज्ञानियोंके वचनपर, निर्देश-पर श्रद्धा रखी जाये।

हमको किसीने सुनाया एक विद्यार्थी काशीमें पढ़ रहा था, वह

रह गया काशीमें और गुरुजी पहुँच गये उसके घर। पिताने पूछा कि हमारा पुत्र कैसा अध्ययन कर रहा है। पण्डितजीने बताया कि आपका पुत्र बहुत अच्छा है। परन्तु स्वयं तो उसे समझ नहीं और हमलोगोंकी बतायी बात मानता नहीं। आपकी समझ हो तो समझिये और यदि समझ न सकें, क्योंकि सबकी समझ एक-सी नहीं होती, तो ज्ञानियोंकी बतायी हुई बातपर श्रद्धा कीजिये। श्रद्धाहीन जीवन बिलकुल रूखा-सूखा जीवन है, आप इसका अनुभव कर लीजिये। आप अपने माता-पिताको श्रद्धासे ही माता-पिता मानते हैं, क्योंकि उनके मातृत्व-पितृत्वका आपको साक्षात्कार नहीं। आप इस दुनियामें बिना श्रद्धा कैसे रह सकते हैं? आप श्रद्धासे ही यह मानते हैं कि डाक्टर जो दवा देगा और इन्जेक्शन लगायेगा उससे हमारे रोगका निवारण होगा। नाईसे बाल बनवाते समय भी आप श्रद्धासे ही यह विश्वास करते हैं कि वह आपके गलेको काट नहीं देगा। स्त्रियोंको पतियोंपर, पुरुषोंको पत्नियोंपर और पति-पत्नीको बेटेपर विश्वास करना पड़ता है। अन्यथा घर-परिवार अविश्वास एवं दुःखोंका केन्द्र बन जाये। इसलिए भगवान् कहते है—**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च**। एक तो अज्ञानी और दूसरे अश्रद्धालु। **एक तो करैला दूसरे नीम चढ़ा**—जैसी बात है। हे भगवान्! यह कैसी विडम्बना है कि लोगोंको दूसरेकी बुद्धिपर श्रद्धा करनेमें शर्म आती है किन्तु अपनी बुद्धिको इतनी बड़ी समझते हैं कि उसीपर श्रद्धा बनाये रखते हैं। यही बुद्धिका सम्मोहन है। अज्ञानी स्वयं अपनी बुद्धिसे सम्मोहित हो जाते हैं। तत्त्वको ठीक-ठीक नहीं समझते। स्वयं जानते नहीं, दूसरोंपर श्रद्धा करते नहीं और हर बातमें होते हैं संशयात्मा। यहाँ भी संशय वहाँ भी संशय, सर्वत्र सबने संशय—**सर्वतोऽभिशङ्किनान्**। भागवतमें कहा है कि कौवे सबपर शङ्का करते हैं। जो इनको चुग्गा डालने जाता है उससे भी डरते हैं। शङ्का वह, जो हमारे हृदयकी

शान्तिको काट दे। शं=शान्तिम् कृन्तति इति शङ्का। अज्ञान, अश्रद्धा और संशय—ये तीनों मनुष्यके नाशका साधन हैं। इनसे उनकी मनुष्यता अदर्शनको प्राप्त हो जाती है। वे नायं लोकोऽस्ति न इस लोकमें सुखी होंगे और न परलोकमें सुखी होंगे। इसलिए हमें अपने जीवनसे संशयको दूर कर देना चाहिए।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमुतिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

संशय मनुष्यके बड़प्पनका लक्ष्य नहीं। यदि मनुष्य तरह-तरहकी शंका द्वारा अपने भीतर दुविधा पैदा कर लेते हैं तो यह उसकी चतुराई और बुद्धिमत्ता नहीं, अज्ञानकी पहचान है। तस्मादज्ञानसम्भूतम्—अज्ञानकी सन्तानका नाम है संशय और वह रहता है मनुष्यके हृदयमें। उससे मनुष्य इतने प्रभावित हैं कि उन्हें अपने स्वरूपके बारेमें ही शंका है। वह कर्त्ता है, भोक्ता है, संसारी है, परिच्छिन्न है अथवा क्या है—यह संशय उसे बना हुआ है। इससे छुटकारा पानेके साधनके सम्बन्धमें भी वह निश्चित नहीं कर पाता कि उसकी प्राप्ति ज्ञानसे होगी, भक्तिसे होगी अथवा कर्म करनेसे होगी। इस प्रकार साधनके सम्बन्धमें भी शंका और लक्ष्यके सम्बन्धमें भी शंका। कर्मके सम्बन्धमें भी अज्ञान, भावके सम्बन्धमें भी अज्ञान, अज्ञान ही अज्ञान। यह अज्ञान मनुष्यके लिए बहुत ही हानिकारक है। उसीको निकाल फेंकनेके लिए गीताका उपदेश है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। यह देखिये उनका स्वरूप। अपार करुणाके सागर हैं, आनन्दके निधान हैं अमङ्गलमुक्तवीथि-संचारसारथिम्—अमंगलसे मुक्त विधिमें ले चलनेके लिए चतुर सारथि हैं। 'अपार-दयानिधानम्' हैं। 'विज्ञान-सार-रस-मानस-राजहंसम्'—विज्ञान-सार-रस मानसके राजहंस हैं। अब उनकी

कृपासे हमारे अज्ञानका, संशयका निवारण हो जायेगा। वे हमें ऐसे मार्गपर ले जायेंगे जहाँ कोई डर नहीं।

अब अन्तमें एक बात और, भक्तोंको भगवान्‌के रूपकी, नामकी चर्चा बहुत प्यारी लगती है। परन्तु भगवान्‌के तत्त्वज्ञानमें उनकी रुचि कम हो जाती है। वेदान्ती लोग चाहते हैं कि भगवान्‌के तत्त्व-ज्ञानकी तो चर्चा हो परन्तु उनके रूपकी चर्चा न हो। वास्तवमें हमारे मनको संतुलित रखनेके लिए रूपकी आवश्यकता होती है और बुद्धिको संतुलित रखनेके लिए ज्ञानकी। इस जीवनमें प्यार और ज्ञान दोनोंकी आवश्यकता है। प्यारके लिए चाहिए भगवान्‌का रूप और ज्ञानके लिए चाहिए भगवान्‌का उपदेश, भगवान्‌की गीता। भागवतमें जो लीलाएँ हैं वे हमारे प्यारको सन्तुलित करनेके लिए हैं। यह जो भगवद्गीता है, हमारी बुद्धिको सन्तु-लित करनेके लिए है। जिसके प्रेम और ज्ञान दोनों सन्तुलित होंगे उनके जीवनमें अच्छे-अच्छे कर्म होंगे। जो कर्म भगवान्‌के द्वारा सम्पन्न होते हैं वे सबके लिए होते हैं—जैसे भगवान् पृथिवी बनते हैं, पानीका बन्दोबस्त करते हैं, अन्न देते हैं और उससे समस्त प्राणियोंका पालन-पोषण एवं संरक्षण होता है, उसी प्रकार भगवद्भक्तोंका यह कर्तव्य है कि वे भी अपनी सामर्थ्य द्वारा जनताके लिए आवास, भोजन और वस्त्र आदिकी व्यवस्था करें। यह भगवान्‌का धर्म है। वे हमें ज्ञान देते हैं, आनन्द देते हैं, सृष्टिमें साँस लेनेके लिए हमें हवा देते हैं, वे चलनेके लिए आकाश देते हैं, देखनेके लिए सूर्यकी रोशनी देते हैं। उसी तरहसे जब भगवान्‌का ज्ञान हमारे जीवनमें प्रकट होगा तो हमारी जीवन-शक्ति, सबकी जीवन-शक्ति और ज्ञान-शक्ति बन जायेगी। इसीके लिए भगवान् प्रकट होते हैं और हमें उपदेश करते हैं।

एक बात और—इससे भी सरल यह है कि यदि हम भगवान्‌के रूपको अपने प्यारसे और भगवान्‌के ज्ञानको अपनी बुद्धिमें लेना चाहते हैं तो दोनोंके साथ कड़ी जोड़नेके लिए हमारे जीवनमें भगवान्‌का नाम होना भी आवश्यक है। नाम छोटा-सा है उसके लिए बहुत पढ़ा-लिखा या बहुत सुशिक्षित, सुसंस्कृत होनेकी जरूरत नहीं। यदि आपको सबके सामने भगवान्‌का नाम लेनेमें संकोच होता हो तो उसे अपने मुँहके भीतर छिपा सकते हैं। जैसे भी हो आप भगवान्‌का नाम लेते रहेंगे तो धीरे-धीरे भगवान्‌के रूपके साथ भी आपका सम्बन्ध जुड़ जायगा और उनका ज्ञान भी आपके जीवनमें आ जायगा। इसलिए अन्तिम बात यही है कि भगवान्‌का नाम अपने जीवनमें आये, भगवान्‌के रूपसे हमें प्यार हो, भगवान्‌का तत्त्व-ज्ञान हमारे भीतर प्रकाशित हो और भगवान्‌के जो अनन्त, अचिन्त्य गुणगण हैं वे पूरे नहीं तो आंशिक रूपसे ही सही हमारे जीवनमें भी प्रकट हों। जिस प्रकार भगवान् सारी सृष्टिको सत्ता, चैतन्य और आनन्दका दान कर रहे हैं इसी प्रकार हम भी यथाशक्ति लोगोंको ज्ञान एवं आनन्दका दान करते रहें। हम यदि गोवर्धन नहीं उठा सकते तो अपनी लठिया तो लगा ही सकते हैं। भगवान्‌के कर्ममें हमारा जो भी योग हो इसके लिए हमें हमेशा उद्यत और सचेष्ट रहना चाहिए।

आप लोगोंने बड़े प्रेमसे, शान्तिसे, अपना समय देकर और कभी कोई बात आपकी रुचिकी नहीं हुई होगी तो भी उसे सुनकर अपने-अपने मनको वशमें रखा है, छोटी-छोटी कुर्सियोंपर बैठकर कष्ट उठाया है। आप लोगोंने स्वयं तो आनन्द लिया ही है, मुझे भी आनन्द दिया है। क्योंकि आपके आनन्दको देखकर मुझे भी बहुत आनन्द हुआ है। आप लोगोंने जो आनन्द

अलग-अलग लिया है वह मुझे आप सबकी ओरसे अकेले ही मिल गया है। इसलिए मैं बहुत-बहुत आनन्दका अनुभव कर रहा हूं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

## ❀ सत्साहित्य पढ़िये ❀

### पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित

| | |
|---|---|
| १. माण्डूक्य-प्रवचन ( आगम प्रकरण ) | १०.०० |
| २. माण्डूक्य-प्रवचन ( वैतथ्य प्रकरण ) | ७.५० |
| ३. माण्डूक्य-प्रवचन ( अद्वैत प्रकरण ) | ४.५० |
| ४. माण्डूक्यकारिका-प्रवचन ( अलातशान्ति-प्रकरण ) | |
| ५. कठोपनिषद्-प्रवचन–१ | ९.०० |
| ६. कठोपनिषद्-प्रवचन–२ | १२.०० |
| ७. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन | ६.०० |
| ८. मुण्डकसुधा | ३.७५ |
| ९. ईशावास्य-प्रवचन | ४.०० |
| १०. सांख्ययोग ( दूसरा अध्याय ) | ९.७५ |
| ११. कर्मयोग ( तीसरा अध्याय ) | ६.०० |
| १२. ध्यानयोग ( छठाँ अध्याय ) | ६.०० |
| १३. ज्ञान-विज्ञान-योग ( सातवाँ अध्याय ) | ६.०० |
| १४. विभूतियोग ( दसवाँ अध्याय ) | ५.२५ |
| १५. भक्तियोग ( बारहवाँ अध्याय ) | ८.०० |
| १६. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना ( तेरहवाँ अध्याय ) | ९.७५ |
| १७. पुरुषोत्तम योग ( पन्द्रहवाँ अध्याय ) | ५.०० |
| १८. गीता-दर्शन–१ | ५.५० |
| १९. गीता-दर्शन–२ | ५.०० |
| २०. गीता-दर्शन–३ | ४.०० |
| २१. गीता-दर्शन–४ | ५.०० |
| २२. गीता-दर्शन–५ | ५.०० |
| २३. गीता-दर्शन–६ | ६.०० |
| २४. साधना और ब्रह्मानुभूति | ५.२५ |
| २५. चरित्रनिर्माण आणि ब्रह्मज्ञान (मराठी) | १.५० |
| २६. आत्मबोध | ३.०० |

| | |
|---|---|
| २७. आनन्दवाणी, भाग ५ ( गुजराती ) | २.२५ |
| २८. नारद भक्ति-दर्शन | ९.०० |
| २९. भक्ति-सर्वस्व | १०.०० |
| ३०. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-१ | १०.०० |
| ३१. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-२ | १०.०० |
| ३२. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-३ | १०.०० |
| ३३. श्रीमद्भागवत-रहस्य | ३.७५ |
| ३४. वेणुगीत | ३.०० |
| ३५. महाराजश्रीका एक परिचय | १.०० |
| ३६. गोपियोंके पाँच प्रेम गीत | ०.४० |
| ३७. भागवत विचार-दोहन | ३.०० |
| ३८. मोहन नी मोहनी ( गुजराती ) | ०.६० |
| ३९. श्रीभक्तिरसायनम् ( संस्कृत ) | १२.०० |
| ४०. श्रीभक्तिरसायनम्-प्रपा ( संस्कृत ) | ३.०० |
| ४१. महाराजश्रीका एक परिचय ( गुजराती ) | १.९० |
| ४२. कपिलोपदेश | ३.७५ |
| ४३. व्यवहार और परमार्थ | ३.७५ |
| ४४. मानव-जीवन और भागवत-धर्म | ४.५० |
| ४५. राम-शताब्दी-स्मृति | २०.०० |
| ४६. विवेक कीजिये–१ | ५.५० |
| ४७. विवेक कीजिये–२ | ९.०० |
| ४८. ज्ञान-निर्झर ( श्री डोंगरे जी ) | ०.९० |
| 49. An Introduction to a Realised Soul | 0.40 |
| 50. Ideal and Truth | 5.25 |
| 51. Glimpses of Life Divine | 1.50 |

बृहद् सूची-पत्र निम्नलिखित पतेपर माँगें—

— सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट —

'विपुल' २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग, मालाबार हिल

बम्बई–४००००६

फोन : ८१७९७६